संस्थापक
शिव वर्मा
संपादकीय परामर्श
असग़र वजाहत
संपादक
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / चंचल चौहान
संपादन सहयोग
कांतिमोहन 'सोज़'
रेखा अवस्थी
जवरीमल्ल पारख
संजीव कुमार
हरियश राय
बली सिंह
कार्यालय सहयोग
मुशर्रफ़ अली

इस अंक की सहयोग राशि
साठ रुपये
(डाक ख़र्च अलग)

संपादकीय कार्यालय
ख़सरा नं0 258 , लेन नं0 5, चंपा गली, वेस्ट एंड रोड,
सैदुल्ला जाब, (साकेत मैट्रो के पास)
नयी दिल्ली-110050
Email : jlsind@gmail.com
Mobile : 9818859545, 9818577833
Website : www.jlsindia.online

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतया
ग़ैरव्यावसायिक और अवैतनिक
पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं
जलेस की सहमति आवश्यक नहीं

जनवादी लेखक संघ केंद्र की पत्रिका

नया पथ

पुस्तक-चर्चा अंक-2

वर्ष 34 : अक्टूबर-दिसंबर 2020

अनुक्रम

संपादकीय / 3

स्मृति शेष - जो साथ रहेंगे हरदम

विचंश : विद्रोही प्रकृति और प्रतिरोध का जज़्बा : महेश दर्पण / 5
विष्णु मेरा दोस्त : कांति मोहन / 8
यारों ने कितनी दूर बसायी हैं बस्तियां : असग़र वजाहत / 10
मंगलेश डबराल की याद में : विष्णु नागर / 11
बना रहेगा चांद सरे आसमां : प्रियदर्शन / 16
लाइब्रेरी वाले फ़ारुक़ी साहब : रवीश कुमार / 18

वैचारिक विमर्श

'जाति का विनाश' हिंदू धर्म से मुक्ति के बिना संभव नहीं है : मुरली मनोहर प्रसाद सिंह / 19

काव्य चर्चा

गंगा जमनी तहज़ीब के दो शायर : हृदयेश मयंक / 22
काव्य-आस्वाद : कुछ स्वगत-कुछ प्रकट : अनूप सेठी / 27
स्त्री विमर्श के संभावनापूर्ण पाठ : रेखा अवस्थी / 31
समय के साथ बदल रही है कविता : बोधिसत्व / 36
समकालीन उर्दू ग़ज़ल का परिदृश्य : रहमान मुसव्विर / 41
यथार्थ का पुनर्सृजन ही कविता है : प्रेम तिवारी / 46

उपन्यास चर्चा

प्रत्यंचा, *टिकटशुदा रुक़्क़ा* और *तिलोका वायकान* : राकेश तिवारी / 50
अतीत के कालखंडों में वर्तमान की दस्तक : अरविंद कुमार / 57
आज के हिंदी उपन्यास के वर्णक्रम के दो छोर : विभास वर्मा / 61

कहानी चर्चा

हमारे समय की गवाही : संजीव कुमार / 65
सभ्यता-समीक्षा की तीन कथा-छवियां : राकेश बिहारी / 68
तीन निगाहों से झलकता यथार्थ : रश्मि रावत / 71
वैश्वीकरण के दौर में देशज समीकरणों की कहानियां : सत्य प्रकाश सिंह / 77
अंतर्ग्रथित यथार्थ की कहानियां : अतुल सिंह / 80

कथेतर गद्य : जीवनी साहित्य विमर्श

जगमगाती रोशनियां : रविभूषण / 83

आलोचना संवाद

सिनेमा में साहित्य की ख़ुशबू ... : नलिन विकास / 87

कविता : देशांतर

लुईस ग्लुक की पांच कविताएं (अमेरिका) : अनुवाद : झरना मालवीय / 91
अल्मोग बेहार की कविताएं (इज़रायल) : अनुवाद : राजेश झा / 95

संपादकीय

पुस्तक चर्चा अंक-2 आपके सामने है। इसमें लगभग 55 पुस्तकों की चर्चा विभिन्न रचनाकारों और समीक्षकों ने की है। कोशिश यही रही है कि पिछले तीन चार वर्षों में प्रकाशित पुस्तकों के माध्यम से हिंदी के रचना संसार के परिप्रेक्ष्य को समझा जा सके। पुस्तक चर्चा अंक-1 में 63 पुस्तकों की चर्चा हो चुकी है। कुछ पुस्तकों पर, वायदे के बावजूद लेख उपलब्ध नहीं हो सके। महामारी भी अनेक बाधाओं में से एक प्रमुख कारण रही । अंक-1 को आशातीत प्रशंसा मिली। आप सभी का आभार।

पुस्तक चर्चा अंक-1 के समय ही तीनों काले कृषि क़ानूनों की वापसी का आंदोलन शुरू हो चुका था। पर तब यह आंदोलन किसान अपने अपने राज्यों में कर रहे थे। उस अंक में भी हमने मोदी सरकार की बदनीयती और हठधर्मिता का ज़िक्र किया था। तीन चार महीनों तक लगातार किसान अपने राज्यों से ही केंद्र सरकार को अपनी मांगों की आवाज़ देते रहे, पर मोदी सरकार ने कुछ भी नहीं सुना। तब किसानों ने सरकार की नीयत से लड़ने तथा 'बहरों को ऊंचा सुनाने' के लिए संविधान दिवस 26 नवंबर को दिल्ली में धरना प्रदर्शन और डेरा डालने का ऐलान किया। 'करो या मरो' नारे की तरह 'क़ानून वापसी तभी घर वापसी' के नारे के साथ 24 नवंबर से किसानों ने दिल्ली कूच शुरू कर दिया। आप सभी जानते हैं कि भाजपा सरकारों ने किसानों को दिल्ली पहुंचने से रोकने के लिए उनके साथ किस तरह की बर्बरता की, लाठी, आंसूगैस, पानी की बौछार, सड़क पर खाई खोदने और सीमेंट के बड़े बड़े ब्लाक लगाने व कंटीले तार आदि से तरह तरह के व्यवधान पैदा करने, किसानों को उकसाने और उनका मनोबल तोड़ने की सारी कोशिशें कीं, मगर देश भर के किसानों के सैकड़ों जत्थे सारी बाधाओं को पार करके दिल्ली की सीमा पर पहुंच गये, उन्हें रामलीला ग्राउंड नहीं जाने दिया गया, तो वे वहीं दृढ़ संकल्प के साथ सारी चुनौतियों का सामना करने के लिए धरने पर बैठ गये और तब से महीना से ऊपर हो चुका है। क़रीब 70 किसान कड़ाके की सर्दी में गुज़र गये हैं । मोदी सरकार ने संवेदना/ श्रद्धांजलि का एक शब्द भी बोलने से परहेज़ किया हुआ है। भाजपा के नेता उन्हें कभी आतंकवादी, कभी 'टुकड़े टुकड़े गैंग' से प्रेरित बताकर देश के अन्नदाता का अपमान कर रहे हैं। पर किसान डटे हुए हैं। प्रतिरोध का नया इतिहास रच रहे हैं। नागरिक समाज का उनके शांतिपूर्ण आंदोलन को अपार सहयोग मिल रहा है। विदेशों में रह रहे भारतीय भी उनके समर्थन में जगह जगह सड़कों पर उतरे हैं।

दुखद और हास्यास्पद स्थिति यह है कि लौह पुरुष सरदार पटेल के ये नक़लची आज जनता का दमन और उत्पीड़न करने के लिए लौह पुरुष और मज़बूत नेता बनने का दिखावा कर रहे हैं। सरदार पटेल ने देश की एकता के लिए अंग्रेज़ों के पिट्ठू राजे रजवाड़ों के साथ सख्ती का रुख़ अपनाया था न कि देश की आम जनता या मज़दूर-किसानों को दबाने या लूटने के लिए लौह पुरुष कहलाये थे। मोदी सरकार ने नोटबंदी, जी एस टी, नागरिकता संशोधन क़ानून, जम्मू कश्मीर का राज्य दर्जा छीनने का क़ानून थोप कर और श्रम क़ानूनों में बदलाव करके अवाम के विभिन्न हिस्सों पर अत्याचार के साधन ईजाद किये और अब किसानविरोधी तीन कृषि क़ानून, तमाम संवैधानिक परंपराओं को धता बताते हुए पारित कर लिये। ये सारे क़दम जनता को लूटने, तबाह करने और बांटने के लिए तथा पूंजीपतियों व कारपोरेट घरानों को और अधिक फ़ायदा पहुंचाने के लिए उठाये गये हैं और लागू किये जा रहे हैं। इस आंदोलन में शामिल किसान यह सच्चाई जान चुके हैं, इसीलिए वे अपनी मांगों पर अडिग और दृढ़संकल्प हैं। मोदी सरकार बातचीत का ढोंग रचकर तारीख़ें देती जा रही है जिससे किसानों का धैर्य टूट जाये, इस बीच वह आंदोलन को बांटने और निष्प्रभावी बनाने के उपाय भी सोच रही है। बारदोली किसान आंदोलन से सरदार बने वल्लभ भाई पटेल का अब और अधिक अपमान क्या हो सकता है कि आज उनके नाम की माला जपने वाले किसानों की समस्याओं और आशंकाओं का निदान करने के बजाय कारपोरेटों की सेवा में लगे हैं! फिर भी ख़ुद ही लौह पुरुष का तमगा लटका कर अपना ढोल पीट रहे हैं । इतिहास गवाह है कि तानाशाह ऐसा ही करते रहे हैं।

सरकार और किसान प्रतिनिधियों के बीच अनेक बार की बेनतीजा बातचीत से यह और साफ़ हो गया है कि सरकार कृषि क्षेत्र को कारपोरेट पूंजी के हवाले कर न्यूनतम समर्थन मूल्य के साथ ही सार्वजनिक राशन वितरण प्रणाली तथा अनाज मंडी की व्यापक व्यवस्था से मुक्त होना चाहती है। नीति आयोग के आलेखों और वित्त मंत्री के पिछले वर्ष मंडी व्यवस्था के बारे में संसद में दिये वक्तव्यों से मोदी सरकार की ये मंशाएं इन तीनों काले क़ानूनों के ज़रिये खुल कर सामने आ चुकी हैं। किसान भी आम जनता के काफ़ी बड़े तबक़ों के समर्थन से इन क़ानूनों को रद्द कराने के लिए दिल्ली की चार सीमाओं पर डेरा डाल कर धरना दे रहे हैं। परंतु सरकार की यह समझ है कि हिंदुत्व के छल प्रपंचों, उन्मादी राष्ट्रवाद एवं महामारी व गोदी मीडिया के बल पर किसान आंदोलन से पार पा लेगी।

साथियो, 1907, 1917-18 एवं 1936-37 के किसान आंदोलनों के संघर्षों का इतिहास और प्रेमचंद, प्रसाद, निराला, पंत तथा राहुल

सांकृत्यायन आदि के साहित्य ने हमारी संवेदना और वैचारिकी को निरंतर समृद्ध किया है। *रंगभूमि* के सूरदास के आत्मदाह, *गोदान* के होरी की त्रासद मृत्यु, *मैला आंचल* में प्रतिबिंबित शोषकों की कुत्सित स्वार्थ लिप्सा और *रागदरबारी* में वर्णित सवर्णों की पुलिस प्रशासन से मिल कर की गयी दबंगई के आख्यान हमें अकस्मात याद आते हैं। आज का किसान शोषकशासक वर्गों की चालाकियों और मंशाओं को समझ रहा है। यह किसान आंदोलन एक ऐतिहासिक घटना है, यह एक विशाल जनवादी उभार है, इसलिए इस किसान आंदोलन को और अधिक समर्थन देकर मज़बूत बनाना लोकतंत्र को मज़बूत बनाना है। गुरुदेव रवींद्र नाथ टैगोर अन्न के उत्पादन को मात्र एक क्रिया या कर्म नहीं मानते थे। उन्होंने उसे समरस प्रकृति का उत्सव माना है: 'धरणी के अन्न भंडार से हम केवल क्षुधा शांति की ही आशा नहीं करते, उसमें सौंदर्य का अमृत भी है। वृक्ष में लगे फल हमें पुकारते हैं – केवल पौष्टिक अन्न पिंड बन कर नहीं, रूप, रस, गंध, वर्ण लेकर। इससे हिंसा को प्रेरणा नहीं मिलती, यह सौहार्द की पुकार है।' यह असंवेदनशील सरकार क्या प्रकृति के सौंदर्य और सौहार्द को बचायेगी?

साथियो, इस अंक में हम नोबल पुरस्कार से इस वर्ष सम्मानित अमरीकी कवि, लुईस ग्लुक की पांच कविताओं और इज़रायल के युवा कवि अल्मोग बेहार की दो कविताओं के अनुवाद दे रहे हैं।

हम अत्यंत शोक संतप्त हो आदरणीय विष्णु चंद्र शर्मा, शम्सुर्रहमान फ़ारुख़ी और प्रिय मंगलेश डबराल के असामयिक निधन पर उनकी स्मृति में दो दो स्मृति लेख प्रकाशित कर रहे हैं। अपने विशिष्ट व्यक्तित्व और महत्वपूर्ण रचनात्मक योगदान से वे हमेशा साथ रहेंगे। इसी दौरान नृत्य की बड़ी हस्ती अस्ताद देबू, कथाकार फ़िल्मकार नरेन एवं कवि-अनुवादक चंद्र किरण राठी के निधन पर *नया पथ* गहरा दुःख प्रकट करता है। साहित्य, कला जगत और परिवार के दुख में *नयापथ* शामिल है, हम इन दिवंगत प्रतिभाओं को पुष्पांजलि अर्पित करते हैं। साथ ही हम धरना प्रदर्शन के बीच दिवंगत किसान साथियों को भी सलाम और उनके परिवारजनों के साथ संवेदना व्यक्त करते हैं।

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

विचंश : विद्रोही प्रकृति और प्रतिरोध का जज़्बा

महेश दर्पण

हवा आज़ाद है
गीले कपड़े उड़ाने को
और तुम आज़ाद
जनता को सब्ज़बाग दिखाने को।

छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी कविताओं में एक तरफ़ अपनी डायरेक्ट पोलिटिकल अप्रोच और दूसरी तरफ़ तरल, सूक्ष्म और मानवीय स्पर्श से आपूरित रचनाएं देने वाले विष्णु चंद्र शर्मा 2 नवंबर, 2020 को नहीं रहे। अंतिम दिनों तक वे कविताएं लिखते रहे, पुस्तकें सुनते रहे और इस बात पर प्रसन्न भी हुए कि अमेरिकी राष्ट्रपति के चुनाव में ट्रंप को पराजय हाथ लगी। लघु पत्रिका, *कवि* और *सर्वनाम* के ज़रिये विष्णु जी ने जो इतिहास रचा, उस पर अब संभवतः अध्येता विचार करें। प्रारंभ से ही विद्रोही प्रकृति और प्रतिरोध का जज़्बा लिये विष्णु चंद्र शर्मा को संक्षिप्त नाम विचंश मिला। शर्मा, उनके पिता अपने नाम के साथ काशी आकर लगाने लगे। मूलतः वे अमृतसर के एक बग्गा-परिवार से थे। विचंश ने अस्वीकार और असहमति को अपनी जीवन शैली, पिता के प्रभाव में ही बनाया था। खुद उनके पिता कृष्ण चंद्र शर्मा अपने पिता जमतालाल बग्गा की तरह पौरोहित्य नहीं करना चाहते थे। इसीलिए वे पढ़ने के लिए अमृतसर से पं. रामनारायण मिश्र के साथ काशी चले आये। स्वाधीनता आंदोलन की लहर के साथ ही आर्य समाज से भी वे गहरे में प्रभावित थे।

पं. रामनारायण मिश्र न सिर्फ़ मदनमोहन मालवीय के संपर्क में रहे, उन्हें काशी में लोग छोटा मालवीय ही कहने लगे। बाद में इन्होंने श्याम सुंदर दास, शिवकुमार सिंह के साथ मिलकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। वे सभा के सचिव तो थे ही, उन्होंने चंदा एकत्र कर सभा के लिए ज़मीन भी ख़रीदी। इन्होंने अपनी बेटी शिवदेवी का विवाह कृष्ण चंद्र से किया। इनकी छह संतानों में एक थे विष्णु चंद्र शर्मा। बचपन में ही सुभाष चंद्र बोस को कपूर की माला पहनाकर उनसे प्रभावित हुए और प्रसाद, निराला, राहुल सांकृत्यायन से संस्कार लिये। संपूर्णानंद के नज़रुल पर लिखे एक लेख से विष्णु इतने आकृष्ट हुए कि फिर काज़ी नज़रुल इस्लाम की जीवनी लिखने में लग गये। *अग्निसेतु* पढ़ने वाले जानते हैं कि यह नज़रुल की एक प्रामाणिक जीवनी है।

यों तो नौकरी के बंधन में बंधकर न रहना विचंश का मिजाज़ ही था, फिर भी उन्होंने *शब्द-सागर*, *नागरी मुद्रण*, *कहानी*, *जनयुग* आदि में कुछ-कुछ समय संपादन कार्य किया। *कहानी* से तो नौकरी छोड़कर विचंश दक्षिण भारत की यात्रा पर ही निकल गये। यात्रा उनके जीवन की एक अनिवार्यता ही बन गयी। इस अर्थ में वे राहुल जी के पक्के शिष्य थे। *समय साम्यवादी* शीर्षक राहुल की जीवनी तो उन्होंने बाद में लिखी, वे भारत के बाहर भी खूब घूमे। कभी कोई उनकी विदेश यात्राओं का इतिहास लिखेगा तो अनेक रोमांचक तथ्य सामने आयेंगे। उल्लेखनीय यह है कि ये तमाम यात्राएं उन्होंने अपने दम पर की थीं। किसी स्पांसर या सरकारी ख़र्च पर नहीं। उनकी कविता और यात्रा साथ-साथ चलती थी। उनके सत्रह कविता संग्रहों में एक इसीलिए यात्रा में *कविताएं* शीर्षक से भी है। एक तरह से तो उनका पूरा जीवन ही कवितामय था। तीन कहानी संग्रह, दस उपन्यास, नौ संस्मरण पुस्तकें, छह जीवनियां, आठ आलोचना पुस्तकें, दो यात्रा वृत्तांत, दस संपादित ग्रंथ और अनेक डायरियों के साथ ही उनके लिखे सहस्रों पत्र बताते हैं कि वे जीवन भर कितने सक्रिय रहे! उनके भीतर एक आक्रोश भरी बेचैनी हर वक़्त ज़ोर मारती रहती थी :

कमरे चुप हैं
मेरी बेचैनी को
सुनने के लिए
सुनो, धीरे-धीरे सुनने से
घर बोल पड़ेगा।

उनकी पद्य, गद्य रचनाओं के विषय इतनी विविधता लिये हैं कि उनकी रचना का भूगोल समझने के लिए पर्याप्त तैयारी की ज़रूरत है। काशी से दिल्ली आकर वे कुछ समय रघुनाथ सिंह (सांसद) के यहां रहे ज़रूर, पर फिर उन्होंने एक कहानी क्या लिखी, उसके बाद उन्हें वह घर ही छोड़ देना पड़ा। इसके बाद वे एक घर किराये पर लेकर रहने लगे। नाना और पिता के कारण अनेक शीर्ष राजनेतओं से निकट का परिचय होने के बावजूद विचंश सदा सत्ता के प्रलोभनों से दूर रहे।

कभी *कवि* पत्रिका के माध्यम से मुक्तिबोध सरीखे कवि को हिंदी-जगत में एक स्थायी पहचान दिलाने वाले इस व्यक्ति ने जब *मुक्तिबोध*

की आत्मकथा लिखी, तब प्रबुद्ध समाज यह समझ सका कि मुक्तिबोध के जीवन के मर्म से विचंश का कितना गहरा नाता था! उनकी पुस्तक *स्वराज्य के मंत्रदाता तिलक* यद्यपि आकार में लघु किंतु एक महत्वपूर्ण कृति है। रांगेय राघव, राजेंद्र यादव और विचंश के अन्यतम मित्र रहे मनमोहन ठाकौर। उन पर विचंश ने एक अनूठी पुस्तक लिखी, *हम अकेले कहां हैं मनमोहन ठाकौर*! वे किसी भी तरह, इस धरती को मूल रूप में सुरक्षित रखने के हक़ में लड़ते रहना चाहते थे :

धरती गोल है
और उसे बांटने
या लड़ाने वाले
चौकन्ने हैं।

अराजक माहौल उन्हें क़तई न सुहाता। वे जटिल समकालीन यथार्थ से निरंतर टकराने में यक़ीन रखते हुए चुटीला व्यंग्य करते थे :

बैंकों को लूटने वाले शरीफ़ हैं
घर को जलाने वाले आज़ाद हैं
चुनाव जीतने वाले धनवान हैं
कर्ज़ में फंसी जनता जली है
और धनवान देश को बदलने में
जागरूक हैं
देश विकास के पथ पर
तेज़ रफ़्तार से बढ़ रहा है।

वे भारतीय प्रजातंत्र की असलियत की कलई कई तरीक़े से अपनी रचनाओं में खोलते हैं और जनता को जगाने का काम करते हैं :

चुनाव जीतने के बाद
फ़ैसला हो रहा है
कौन मंत्री बनेगा
कौन मुख्यमंत्री
जनता कुछ देर नेता को
लड्डू खाते देख रही है
फिर तबाही
फिर भुखमरी
फिर कर्ज़ में डूबने की
रोज़मर्रा की कहानी।

दिल्ली में सादतपुर का स्थायी पता हासिल करने के बाद उनका घर हर पीढ़ी के रचनाकारों की अगवानी करता रहा। इससे पूर्व वे यूसुफ़ सराय के कृष्ण नगर, सफ़दरजंग एनक्लेव आदि में रहकर यह जान चुके थे कि दिल्ली की हवा से खुद को कैसे बचाकर रखा जा सकता है! यहीं से वे शिवदान सिंह चौहान, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, त्रिलोचन और अपने अनेक मित्रों के संपर्क में रहते थे। उनका बग़ीचा था, पत्नी पुष्पा जी थीं और प्रिय साथी शेरू था। इसी मकान में कभी कुबेर ने उनकी लंबी शूटिंग की थी और लिखी थी उन पर एक 'अंतिम शीर्षक' लंबी कविता। जब कई बार चोरी-चकारी ने उन्हें परेशान कर दिया, तब उन्होंने तय कर लिया था कि अब इस पुराने मकान में नहीं रहेंगे। रहे सादत पुर में ही, पर ज़मीन के मोह को छोड़कर। उन्होंने अपने पास कुछ न रखा। वही थे, जो लंबे समय बाद भी राजधानी में अपने मित्र राजकमल चौधरी की स्मृति में एक सम्मान प्रारंभ कर सके और हमारे समय के दो महत्वपूर्ण रचनाकार इब्बार रब्बी और पंकज बिष्ट इस रूप में सम्मानित हुए।

कभी वे कबीर को याद करते तो कभी ग़ालिब को। निराला, राहुल, नज़रुल तो उनकी सांस-सांस में थे। उनका एक संपादक रूप यह भी था कि वे शिवदान सिंह चौहान को फिर से नयी पीढ़ी के समक्ष लेकर आये। उन्होंने *अरघान* के माध्यम से त्रिलोचन की कविताओं को प्रस्तुत किया। रामविलास और त्रिलोचन ही नहीं, नागार्जुन और शमशेर पर भी अपनी व्यावहारिक आलोचना दी। उनके राह दिखाये कितने ही रचनाकार बाद में चर्चित हुए।

विचंश की चिंताएं समाज, विश्व मानवता और साहित्य को लेकर अनंत थीं। वे रचना को परंपरा के साथ भी और इसे तोड़ते हुए भी देखना चाहते थे। पर इधर के साहित्यिक परिदृश्य से वे खुश नहीं थे :

दोहा, चौपाई, छप्पय
अनुष्टुप
किताबों में बंद हैं
मैं खुद छंद से
वाक्य को फैलाने

या समेटने में
तल्लीन हूं
कविता की मौत पर
अध्यापक खुश हैं
कवि जहं-तहं
प्रकाश फेंक रहे हैं।

विचंश एक अप्रैल, 1933 को काशी में जन्मे थे। हम मित्रगण उनके जन्म दिन पर एकत्र होते, तो खूब हंसी-मज़ाक़ चलता एक अप्रैल के बहाने। यह तब की बात है, जब उनका दुर्वासा रूप बहुत बदल चुका था। वे पत्नी पुष्पाजी के निधन के बाद बेहद अकेले हो गये थे। इस अकेलेपन को, *दिल को मला करे है* उपन्यास में पढ़ा जा सकता है। मुझे उनका असीम स्नेह मिलता रहा। मुझे भी लगता रहा कि रमाकांत के बाद सादतपुर में वे एक बड़ा सहारा थे। अब लगता है वे उस इतिहास का एक हिस्सा हैं जिससे सादतपुर बनता था, जिसकी गलियों में होकर नागार्जुन ख़रामा-ख़रामा उन तक पहुंचते थे और बताते थे, 'विष्णु, तुम्हारे अमरूद के पेड़ के पत्ते बता रहे हैं कि इसमें बहुत मीठा फल होगा।'

फलों की बहार थी विचंश के यहां - पपीता, जामुन, केला, अमरूद, गन्ना...और सब्ज़ियां तरह-तरह की...फूलों का क्या कहना...पर अब वे सब स्मृतियों में ही हैं। उनका होना तो अब विचारों में है जिनके लिए आज के मगध में जगह कितनी रह गयी है, यह खुद एक विचार का विषय है। जो काम विचंश जीते जी करते थे, वे अब उनकी रचनाएं करेंगी, यह यक़ीन ज़रूर है। उनके चाहने वालों को चाहिए कि अब उनकी रचनाओं पर बात करें।

मो. 9013266057

विष्णु मेरा दोस्त

कांतिमोहन

प्रिय विष्णु,

आख़िर तुम नहीं ही माने। मैंने सोचा था कि 80 पार करने के बाद आदमी बदल जाता है, इसीलिए तुमसे कहा था कि इस बार जब तुम किसी यात्रा पर निकलो तो मैं ज़रूर तुम्हारे साथ चलूंगा। उसी हिसाब से मैं तैयारी भी कर रहा था क्योंकि मैं जानता था कि तुम्हें यात्रा पर अकेला ही निकलना पसंद है और तुम अपने झोले में अपनी डायरी डालकर कब निकल भागोगे, इस मामले में तुम पर भरोसा नहीं किया जा सकता था; इसलिए मैं छोटे नोटिस पर चलने की तैयारी कर रहा था कि अचानक पता चला, विष्णु तो निकल भी गया।

इस बार तुम्हारा जाना निराला ही रहा। हमेशा तुम यात्रा के अगले पड़ाव पर पहुंचकर मुझे एक पोस्टकार्ड पर अपना अस्थायी पता भेजते थे और हिदायत देते थे कि तुम्हें वापसी का किराया कहां भेजूं? इस बार ऐसा कुछ नहीं हुआ। तुम्हारा अस्थायी पता मेरे पास नहीं। मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि तुमसे संपर्क कहां और कैसे साधूं? इसलिए अंधेरे में तीर मार रहा हूं जो तुक्का या बेतुका भी साबित हो सकता है।

तुम्हें याद करना, तुम्हें भूल जाना, एक उलझनभरे और मरे हुए ज़माने को पुनर्जीवित या प्रत्युत्पन्न करने जैसा कठिन काम है और मेरी कारयित्री प्रतिभा के परे है। मैंने कभी सोचा भी न था कि कभी इसकी ज़रूरत पेश आयेगी। 1957 में जब तुमसे मुलाक़ात हुई थी, हम दोनों कितने जवान थे। स्वप्नों में खोये-खोये राजकुमार! ज़रा सी उत्तेजना, या कभी-कभी उसके बग़ैर भी भड़क जानेवाले ज्वलनशील शोले, अपने सहकर्मियों में सबसे छोटे और कम अनुभवी, लेकिन अभिमान-सुमेरु और असहिष्णु। तुम जहां हो, वहां पहुंचने के बाद तुम्हारी मुलाक़ात अपने कई सहकर्मियों से हुई होगी, ख़ासकर, शंकर लाल मस्करा से जिसे तुम हमेशा मस्खरा कहते थे और जो कहता था कि ‘असहिष्णु’ और ‘विष्णु’ की तुक तो भगवान ने वहीं से मिलाकर भेजी है, किसी और को मिलाने की ज़रूरत ही क्या है? मैं तो न कहीं आता-जाता हूं और न किसी की खोज ख़बर ही रखता हूं।

वह एक अजीब सा प्रोजेक्ट था। कई साल पहले डाक्टर हरदेव बाहरी और उनकी टीम ने संक्षिप्त ओक्सफ़र्ड डिक्शनरी का अंग्रेज़ी से हिंदी में रूपांतरण किया था, लेकिन शिक्षा मंत्रालय ने उसे संतोषजनक नहीं पाया। लिहाज़ा उसे संशोधित और संपादित करने के लिए डाक्टर यदुवंशी की अध्यक्षता में एक कार्यदल गठित किया गया जिसका ज़िम्मा रामचंद्र टंडन को सौंपा गया जो आल इंडिया रेडियो पर चीफ़ प्रोड्यूसर की हैसियत से काम कर रहे थे। यह एक साल का प्रोजेक्ट था और इसकी ज़िम्मेदारी हिंदी साहित्य सम्मेलन को दी गयी जिसने कनॉट प्लेस में स्थित अपने दिल्ली कार्यालय में इसे अंजाम दिया। अनुवाद कार्य में जिन लोगों को शामिल किया गया उनमें डाक्टर भोलानाथ तिवारी, देशराज गोयल, नेमिचंद्र जैन, शंकर लाल मस्करा, महेंद्र भारद्वाज, महेंद्र चौबे, विष्णु चंद्र शर्मा और कांतिमोहन शर्मा के नाम तो मुझे याद हैं, शायद एकाध नाम ऐसा भी हो जो विस्मृति के गर्भ में समा गया हो। मुझे इतना ही याद है कि इस संशोधित रूप को भी संतोषजनक नहीं पाया गया था।

देखते-देखते हमारा परिचय ऐसी घनिष्ठ मैत्री में बदल गया कि उसके चर्चे होने लगे। हम दोनों एक-दूसरे से परिचित होने लगे। मैं तो एक साधारण सा नौजवान था जो अपने अधिकारों के लिए बड़ी से बड़ी ताक़त से लड़ लेता था। तुमने बताया था कि अधिकार चेतना और संघर्षशीलता की रक्षा हर क़ीमत पर करनी चाहिए। यह भी मैंने तुमसे ही सीखा कि आदमी को अपनी ज़रूरतें इतनी सीमित रखनी चाहिए कि उन्हें पूरा करने के लिए उसे किसी के सामने हाथ न फैलाना पड़े। हाथ फैलाने से हाथ तो कुछ आता नहीं, उलटे इंसान अपनी ही नज़रों में गिर जाता है। उम्र के एतबार से तो तुम मुझसे सिर्फ़ दो साल बड़े थे, लेकिन अनुभव में बहुत बड़े थे और इस नाते मैं तुम्हारा सम्मान इसी तरह करता था जैसे तुम मेरे शिक्षक हो! तुम चाहते तो हमारा रिश्ता कृष्णार्जुन का हो सकता था, लेकिन प्रपत्ति मार्ग से तुम्हें शुरू से ही घृणा थी और दोस्ती के रिश्ते को तुम सबसे बड़ा और मज़बूत मानते थे। इसलिए तुमने बराबरी पर आधारित उसी रिश्ते को क़ायम रखा और उम्र के आख़िरी पड़ाव तक हम दोनों एक-दूसरे को 'तू' कहकर ही संबोधित करते रहे। जहां तक मुझे याद आता है, तुम मेरे जीवन के अंतिम मित्र थे। उसके बाद परिचितों और साथियों की लंबी क़तार है, लेकिन मेरे प्रेमाश्रुओं पर सिर्फ़ तुम्हारी ही याद का एकाधिकार है।

तुम्हारे हवाले से मुझे स्वतंत्रता-संग्राम के उस महान सेनानी का परिचय पाने का अवसर मिला जिनका नाम कृष्णचंद्र शर्मा था और जो तुम्हारे पिता थे। नागरी प्रचारिणी सभा की संस्थापना में प्रमुख भूमिका निभानेवाले राम नारायण मिश्र तुम्हारे नाना थे, लेकिन उनके एकतरफ़ा हिंदू प्रेम और संकीर्ण विचारधारा के कारण तुम उनके प्रति पूज्य भाव नहीं रखते थे। यह मेरे लिए चौंकानेवाली अप्रिय सचाई थी क्योंकि मैं अपने निरक्षर नाना को बेहद प्यार करता था। लेकिन, तुमने मेरी शंका का यह कहकर समाधान कर दिया कि एक अवस्था के बाद आप व्यक्ति नहीं रह जाते, इतिहास का हिस्सा बन जाते हैं। इतिहास के वस्तुपरक और सच्चे मूल्यांकन में व्यक्तिगत रिश्तों का कोई महत्व नहीं और अगर हम अपने किसी संबंधी की सीमाओं को रेखांकित करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम उसका आदर नहीं करते। अब वह हमारा प्रिय संबंधी इतिहास का एक अंग है और इस

नाते से हम उसकी वस्तुपरक समीक्षा के लिए प्रतिबद्ध हैं।

तुम्हें याद होगा, मैं बनारस में तुम्हारे छात्र जीवन के बारे में खोद-खोदकर प्रश्न पूछता था जो कभी-कभी अजीब भी लगता था। एक बार तुम मुझ पर बिगड़ पड़े थे, लेकिन जब मैंने तुम्हें बताया कि मेरी दिलचस्पी की वजह सिर्फ़ यह है कि तुम्हारे अधिकांश पात्रों को मैं उनकी अनुपस्थिति में जानता हूं और नज़दीक से जानने की इच्छा रखता हूं तो तुम न सिर्फ़ शांत हो गये, बल्कि रुचिपूर्वक मुझे उनकी जानकारी देने लगे। तुमसे मुझे पंडित जगन्नाथ शर्मा, पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पदमलाल पुन्नालाल बख्शी, करुणापति त्रिपाठी, शांतिप्रिय द्विवेदी, शंभू नाथ सिंह, चंद्रबली सिंह और नामवर सिंह आदि के बारे में जो अमूल्य जानकारी हासिल हुई, वह क्या किसी पुस्तक या विश्वकोश से मुमकिन थी? मैं तुम्हें अपना सबसे बड़ा साहित्य-शिक्षक मानता हूं और मानता रहूंगा।

तुम्हारी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि सर्जनात्मक प्रतिभा से संपन्न तुम्हारे मित्र तुम्हारे स्नेह के सहज अधिकारी हो जाते थे और तुम अपना क़ीमती समय उनकी प्रतिभा को निखारने में ख़र्च करने से कभी गुरेज़ नहीं करते थे। मैंने जब से होश संभाला है, अपने आपको कविता करते ही पाया है। लेकिन मैं कवि-कर्म एक गुनाह या अपराध की तरह कने का आदी रहा हूं और आज भी मेरे विशाल मित्र-वर्ग में गिने-चुने मित्र ही दावा कर सकते हैं कि उन्होंने मुझे अपनी रचना का पाठ करते हुए रंगे हाथ पकड़ा है। लेकिन तुमने भांप लिया और मुझसे वादा ले लिया कि अगली कविता मैं तुम्हें ज़रूर भेजूंगा। उन्हीं दिनों मैं बंबई गया और मैंने पहली बार समुद्र-दर्शन और फिर समुद्र मंथन किया। लेकिन उससे रत्न निकालना मेरी क्षमता से बाहर की बात थी, फिर भी मैंने अपना वादा निभाया और वे कविताएं जैसी भी थीं, तुम्हारी ख़िदमत में रवाना कीं। मैं यह देखकर दंग रह गया कि लौटती डाक से तुम्हारा जो पत्र मुझे मिला उसमें तुमने उन कविताओं को सच्ची कविता बना दिया था। मेरे तो होश ही उड़ गये। मैंने ख़्वाब में भी न सोचा था कि मैं इतनी अच्छी कविता लिख सकता हूं। नहीं, मैं इन्हें अपने नाम से नहीं छपवा सकता। विष्णु की कविताएं अपने नाम से छपवाना बेईमानी है। मैंने जतन से उन्हें संजो लिया और अगरचे मेरे पास अपनी सैकड़ों कविताओं में से दर्जनों भी नहीं बचीं लेकिन तुम्हारी संपादित, संशोधित और पुन:सृजित वे कविताएं अक्षुण्ण हैं। तुम्हारे पास फ़ुर्सत हो और मुझमें तुम्हारी दिलचस्पी बची हो तो मैं तुम्हारे पास भेज सकता हूं।

तुमने अपने परिवार और निकट संबंधियों से मुझे परिचित कराया। इस तरह कि मैं उनसे मिलने के लिए अधीर हो उठा। कई साल बाद जब मुझे उनसे मिलने का मौक़ा मिला तो लगा ही नहीं कि यह मेरी पहली मुलाक़ात है। तब वे लोग कालभैरव स्थित तुम्हारे ख़ानदानी घर में रहते थे। मुझे याद है की मेरे वहां होते हुए तुम्हारे मित्र, ठाकुरप्रसाद सिंह, भाभो से मिलने आये थे। वे उम्र में तुमसे बड़े थे और तुम्हारे बड़े भाई, मोती चंद्र के मित्र थे। जिस स्नेह और अपनेपन से वे भाभो से मिले वह चित्र मेरे स्मृतिपटल पर सदैव के लिए अंकित हो गया है। वह मुझे याद दिलाता है कि मेरे भी कई मित्र मेरी मां से इसी तरह मिलते थे जैसे वे मुझसे भी पहले उनकी मां हों। घर का बड़ा बेटा होने के नाते मुझे भाभी का सुख नहीं मिला था, लेकिन तुम्हारी जीवनसंगिनी मुझे भाभी के रूप में मिल गयीं, उन्होंने वह कमी पूरी कर दी। वे मुझे साथ लेकर बनारस के साड़ी मार्केट गयीं और मेरी पत्नी मधु के लिए साड़ियां पसंद कीं। मधु ने वे इतने जतन और प्यार से पहनीं कि उनमें से दो अभी तक बची हुई हैं। वे जब भी उन्हें पहनती हैं, हम दोनों देर तक स्नेहमयी भाभी को याद करते रहते हैं।

फिर मैं तुम्हारी बारात में गया, पटना सिटी। वहां पुष्पा भाभी से मुलाक़ात हुई, जिन्होंने तुम्हारी ऊबड़-खाबड़ ज़िंदगी को व्यवस्थित बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। पहली बार मैं घुमंतू विष्णु को एक सदगृहस्थ बनते देख रहा था। नहीं, तुम्हारे बच्चे नहीं हुए, हालांकि तुम दोनों ही बच्चों को बेहद प्यार करते थे। लेकिन तुम्हें इसका कोई अफ़सोस या पछतावा नहीं था और तुम दोनों दोस्तों के बच्चों पर अपना प्यार यथावत लुटाते रहे। फिर दिल्ली की सुरसा ने अपना मुंह फैलाना शुरू किया और हम दोनों दिल्ली के दो छोरों पर निर्वासित कर दिये गये। आख़िरकार कालापानी की मेरी सज़ा पूरी हुई और मैं यहां से निकल भागा। पुष्पा भाभी के जाने की ख़बर मुझे देहरादून में मिली और मैं यह सोचकर परेशान हो उठा कि अब विष्णु का क्या होगा? लेकिन पुष्पा भाभी और रमाकांत के सम्मिलित प्रयत्नों ने तुम्हें सादतपुर से इस तरह कसकर बांध दिया था कि तुम अपनी तमाम घुमक्कड़ी और सधुक्कड़ी के बाद भी यहां से हिले नहीं। तुम्हारे लिए सादतपुर दिल्ली का एक पिछड़ा हुआ मोहल्ला नहीं, बनारस के काल भैरव की तरह एक भरापूरा परिवार था और तुम उसमें मस्त थे। बाबा और रमाकांत के जाने के बाद इस परिवार को एक पुरखे की ज़रूरत भी थी जो तुमने खूबसूरती से पूरी का दी।

मेरे लिए इसका फ़ैसला करना मुश्किल है कि कुल मिलाकर ज़िंदगी को तुमने दिया ज़्यादा या तुम्हें मिला ज़्यादा; हालांकि तुम्हारे प्रसंग में इससे बेहूदा सवाल हो नहीं सकता। प्रिय विष्णु मैं तुमसे मित्रवत ईर्ष्या करता हूं। नयी पीढ़ी को पुत्रवत प्यार देने और उससे पितृवत आदर पाने की अद्भुत मिसाल है तुम्हारा जीवन।

मो. 8826162547

यारों ने कितनी दूर बसायी हैं बस्तियां

असग़र वजाहत

आधी सदी पुराना दोस्त मंगलेश डबराल चला गया। सन् 1968 में नौकरी की तलाश में जब दिल्ली आया था तो एक बूढ़े नौजवान से मिला था। बीस बाइस साल का एक छोटे क़द, गोरे रंग का लड़का था जो सबका इतना ख़याल रखता था जैसे बुज़ुर्ग रखते हैं। तुमने खाना खाया? तुमने चाय पी? तुम्हारे पास बस का किराया है? तुम्हारी चप्पल टूट गयी है दूसरी ले लो। उस ज़माने में न तो वह बहुत बड़ा कवि था और न मैं लेखक था। न मुझे कोई जानता था, न उसे कोई जानता था। हम दोनों 'अ' लिखना सीख रहे थे। हमारी रचनाएं इधर-उधर छपा भी करती थी। मेरे लिए यह कम हैरत की बात नहीं थी कि मंगलेश ने पहली ही मुलाक़ात में *धर्मयुग* में छपी मेरी कहानी का हवाला दिया था। एक नये और अनजान लेखक की किसी रचना को याद रखना कोई आसान बात नहीं है।

हिंदी पेट्रियट में सब-एडिटर की तनख़्वाह क्या हुआ करती थी, याद नहीं। लेकिन डेढ़ दो सौ महीना से ज़्यादा किसी हालत में नहीं मिलता था और बुज़ुर्ग लड़का दो बेरोज़गार लड़कों की ज़िम्मेदारी निभाता था। मैं और एक दूसरा बेरोज़गार इस लड़के के अकाउंट में सरदार के ढाबे जाकर खाना खा लिया करते थे। महीने के आख़िर में इस लड़के के ऊपर ढाबे की देनदारी उसकी तनख़्वाह से ज़्यादा हो जाया करती थी। मंगलेश के माध्यम से एक पूरी दुनिया मेरे ऊपर धीरे-धीरे खुल गयी थी। मंगलेश कि मुझे पहली बार टी हाउस ले गया था कॉफ़ी हाउस ले गया था उसी ने सलाह दी थी कि दूसरे अख़बारों में भी लिखा करो। उसी की सलाह थी कि मैं अपने लेखन में क्या सुधार करूं। उस ज़माने में दिल्ली में जितने बेसहारा, संघर्ष करने वाले लेखक थे, जिनका अड्डा कॉफ़ी हाउस हुआ करता था, मंगलेश के दोस्त थे।

हिंदी पेट्रियट के अलावा मंगलेश ने दिल्ली के तमाम छोटे बड़े अख़बारों में काम किया था। और जहां भी काम किया, वहां अपनी मेहनत का सिक्का जमाया था। लेकिन एक वक़्त ऐसा आया था जब मंगलेश को दिल्ली में कोई काम नहीं मिल रहा था और फिर मंगलेश की एक लंबी यात्रा शुरू हुई थी । भोपाल, लखनऊ, इलाहाबाद होते हुए मंगलेश लौटकर फिर दिल्ली आ गया था और इन तमाम वर्षों में उसने कविता में जो साधना की थी उसका लोहा माना जा रहा था। मंगलेश की कविता में जिस प्रकार की गहरी मानवीय संवेदना है वह अन्यत्र देखने को कम ही मिलती। इसका कारण भी यह है कि मंगलेश का पूरा जीवन और पूरा व्यक्तित्व मानवीय संवेदना से पूरी तरह लबरेज़ रहा है। अपने अलावा उसने उन सब के बारे में बहुत किया है जो उसके नज़दीक़ आये हैं। ऐसे तमाम प्रसंग है जिन्हें याद किया जा सकता है और ये सारे प्रसंग उसकी कविता में चमकते हुए दिखायी देते हैं।

मंगलेश की कविता के बारे में काफ़ी लिखा गया है। उसे हिंदी के समकालीन कवियों में एक बड़ा स्थान दिया गया है। कुछ लोग उसे रघुवीर सहाय की परंपरा का कवि मानते हैं और कुछ लोग उसे शमशेर बहादुर सिंह से अधिक निकट पाते हैं। मेरे विचार से मंगलेश की कविता एक अलग रास्ता बनाती हुई दिखायी देती है। यह रास्ता अगर कहीं किसी से जाकर जुड़ता है तो वह 'निराला' से ही जुड़ पाता है। वे 'निराला' जैसी गहन संवेदना के कवि हैं, उसी तरह की संवेदना मंगलेश की कविताओं में देखी जा सकती है। साधारण को असाधारण बना देना अच्छे कवि की पहचान मानी जाती है। इस प्रसंग में मंगलेश की कविता उल्लेखनीय है। छोटे-छोटे प्रसंगों से व्यापक मानवीय प्रसंग सामने आते हैं। मंगलेश के गद्य पर ज़्यादा काम नहीं किया गया। शुरू शुरू में उन्होंने कुछ कहानियां भी लिखी थीं। उनकी उस समय लिखी हुई कहानियों को ज्ञानरंजन ने पसंद किया था। कुछ वर्षों बाद मंगलेश ने कहानियां लिखना बंद कर दिया था और अपनी सारी ताक़त कविता लिखने में लगा दी थी। उन्होंने कुछ यात्रा संस्मरण भी लिखे हैं जो उनकी रचनाशीलता के नये आयाम प्रस्तुत करते हैं। मंगलेश का गद्य उनकी कविताओं से कम नहीं ठहरता।

यह भी मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि हमारी लंबी दोस्ती में साहित्य का कोई ऐसा स्थान नहीं था जिसे बहुत महत्त्व दिया जाये या आधार माना जाये। ठीक है हम दोनों लिखते थे। मैं कहानी, उपन्यास, नाटक और मंगलेश कविता, कहानी, यात्रा संस्मरण, लेकिन हम दोनों के बीच संबंध इससे ऊपर थे। दोस्ती और सिर्फ़ दोस्ती। पचास साल से अधिक पुराने संबंधों के आधार पर यह कह सकता हूं की मंगलेश जैसे लोग और कवि कम ही होते हैं।

मो. 9818149015

मंगलेश डबराल की याद में

विष्णु नागर

मर चुका आदमी इतना अच्छा लगता है
जितना वह जीते जी कभी नहीं लगा था।
...

मर चुके आदमी में पता नहीं कहां से
इतनी अच्छाइयां पैदा हो जाती हैं!

ऐसी बदतमीज़ी मैंने कभी नहीं की, मगर मंगलेश डबराल पर लिखते हुए अपनी ही एक कविता की आरंभ की दो और अंत की दो पंक्तियां उद्धृत करके अपनी बात शुरू कर रहा हूं। ये पंक्तियां मंगलेश के न रहने के बाद उन पर भी लागू होती हैं। यकायक शायद अब यह सबको समझ में आ रहा है कि कोविड ने हमारे बीच से एक अत्यंत महत्वपूर्ण कवि छीन लिया है। इन दिनों भी इस कथन पर विवाद सा हो गया है कि वे रघुवीर सहाय के बाद सबसे बड़े कवि हैं या कोई और हैं। वैसे कौन किससे बड़ा या छोटा कवि है,कौन किसके बाद या पहले है, ऐसी बातें किसी मूल्य -निर्णय में मदद नहीं करतीं। इंची टेप लेकर किसी कवि या किसी की कविता का मूल्यांकन संभव नहीं है। इसे समय पर छोड़ देना चाहिए। मंगलेश के जीते जी उनकी मान्यता एक महत्वपूर्ण कवि के रूप में हिंदी कविता के बाहर भी लगातार बढ़ रही थी। भारतीय भाषाओं के कवियों के बीच और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी। और ऐसा होना अकारण तो नहीं हो सकता। अपनी भाषा में भी जोड़तोड़ के बल पर ही महत्वपूर्ण स्थान हासिल करना कठिन है। आसान अगर है भी तो कवि के न रहने के बाद धीरे-धीरे उसकी असली जगह तय होने लगती है। पिछले पचास वर्षों में और हाल ही तक ऐसे कई उदाहरण सामने आये हैं।

मंगलेश अब हमारे बीच इस अर्थ में नहीं हैं कि हम उन्हें कुछ नया रचते-बनाते हुए नहीं पा सकते। बहुत से कवि तो मरने से बहुत पहले मर चुके होते हैं। जब उनकी मृत्यु की ख़बर आती है, तब हम चौंकते हैं। ऐसा शायद इसलिए है कि जीवित रहते ही वे अपने को भुलाये जाने की पर्याप्त योग्यता अर्जित कर चुके होते हैं। इसके विपरीत मंगलेश या उनकी तरह के दूसरे कुछ कवियों की मौत हमें सदमा देती है क्योंकि कुछ नया करने की संभावना उनमें बनी रहती है। मंगलेश रचने के अलावा कुछ नये साहित्यिक विवादों और बहसों के भी जनक थे। कई बार इस कारण बहुत से लोग उन पर टूट भी पड़ते थे। कभी वे अपनी कविता के अतिरिक्त बचाव में भी आ जाते थे, जबकि जो जगह वे हासिल कर चुके थे, उसके बाद इसकी ज़रूरत नहीं थीं। एक बार एक आलोचक ने उनकी कविता भाषा पर उंगली उठायी तो वे तुरंत बचाव में आ गये। बहरहाल इनसे बचने की सलाहों का उन पर असर नहीं हुआ। शायद उन्हें इसमें भी मज़ा आता हो।

मुक्तिबोध की मृत्यु के समय तो मैं एक किशोर था, जानता भी नहीं था कि ऐसा कोई कवि भी था, जो अब नहीं है और उसका होना बहुत मायने रखता था। इसलिए जिस सदमे को उनकी कविता को निकट से जाननेवालों ने तब महसूस किया था, उसे बहुत बाद में, उन्हें पढ़ने के बाद मैं महसूस कर पाया। 1990 के अंत में जब रघुवीर सहाय नहीं रहे तो उनके अभाव को मंगलेश सहित हम सबने बहुत देर तक महसूस किया था और उस रिक्तता को मंगलेश ने भी महसूस किया हमेशा। मंगलेश का अभाव भी कुछ ऐसा है। वे थे तो उस आदमी को चैन नहीं था। तमाम बेचैनियां उनकी कविताओं और उसके बाहर दर्ज होती रहती थीं। अब वे शायद चैन में हों, मगर हम उनके समवयस्क और बाद के कवि उनके न रहने से बेचैन हैं।

मंगलेश और हम एक-दूसरे के कितने क़रीब थे, कितने नहीं, मैं ठीक-ठीक कह नहीं सकता। उनसे मेरी दूरी भी थी, निकटता भी। उनकी अंतरंग मंडली के कुछ दूसरों की तरह मैं उसका सदस्य नहीं था, हालांकि उनकी बहुत सी अंतरंग गोष्ठियों का एक गवाह मैं भी रहा हूं। मैं उन्हें 1971-72 से थोड़ा थोड़ा जानता रहा हूं। हम दोनों के तब संघर्ष के दिन थे। मंगलेश मुझसे कुछ पहले दिल्ली आ चुके थे। साहित्य का संसार कुछ-कुछ उन्हें जानता था,जबकि मैं हर तरह से अनजाना था। विचारधारागत तैयारी तब तक मंगलेश की काफ़ी हो चुकी थी। मैं शून्य या शून्य से थोड़ा ऊपर था। मोहनसिंह प्लेस के कॉफ़ी हाउस में उनके मित्रों की बहसें सुना करता था और सीखने-समझने की कोशिश करता था।

ख़ैर वह दौर गुज़रा। बाद में एक स्तर पर हमारी मित्रता भी हुई। और बाद में हम कविता के कई मंचों पर साथ रहे। कविता के बाहर की दुनिया में भी संग रहा। रसरंजन की कई शामें भी साथ बीतीं। *जनसत्ता* के दफ़्तर में भी कई दोस्तों के साथ दोपहरें बीतीं। बहादुर शाह ज़फ़र मार्ग पर उनका छोटा सा कैबिन मित्रों का सबसे अड्डा और कई नवागत लेखकों-पत्रकारों का स्वागत कक्ष था। इतनी भीड़ होती थी अक्सर वहीं कि अगर वे कभी अकेले काम करते हुए मिल जायें तो कुछ आश्चर्य होता था। मगर यह भाव बहुत देर तक टिक नहीं पाता था। कभी मंगलेश ने किसी से नहीं कहा

कि यारो, अब मुझे काम करने दो। ज़्यादा काम होता तो वे सबकुछ सुनते भी और काम भी मुस्तैदी से निबटाते जाते। तब *जनसत्ता* के चार रविवारी पृष्ठों की जो धमक थी,वह फिर कभी किसी की नहीं रही। बहुत सी बातें उनसे अलग से भी होती रहीं। सहमतियां-असहमतियां रहीं। आज भी वे होते तो यह सब चलता ही रहता। असहमतियां हुई तो एकदूसरे से कुछ समय उदासीन रहे, मगर संबंधों का धागा कभी टूटा नहीं। जब मैं रघुवीर सहाय की जीवनी पर काम कर रहा था, तो मुझे लगता था कि इस काम को करने के सच्चे अधिकारी वे हैं। फिर भी यह अच्छा हुआ, यह काम मैंने किया। शायद उनसे अपनी दूसरी व्यस्तताओं के कारण यह काम पूरा नहीं हो पाता, जैसा शमशेर बहादुर सिंह की जीवनी लिखने की परियोजना के साथ हुआ। यह काम पूरा न हो पाने का एक कारण कोरोना के बाद अस्तव्यस्त हुआ सबका जीवन भी था। शमशेर जी वाला काम शायद आरंभिक नोट्स लेने से आगे नहीं बढ़ पाया। बहुत तरह की उलझनों के बीच ऐसा काम-जो रचनात्मक भी हो और निरंतर शोध भी मांगता हो,उनकी तमाम योग्यताओं के बावजूद कठिन तो था मगर मेरे काम में उन्होंने किसी और से ज़्यादा तत्परता से सहयोग दिया। इसका कारण रघुवीर सहाय से उनका लगाव था और मुझसे मित्रवत संबंध भी इसका कारण निश्चय ही थे।

बहरहाल वे अब नहीं है और उनका न होना इतना अप्रत्याशित है। फिर भी इस प्रकार वे हमारे बीच भी हैं :

अपने ही भीतर मरते जा रहे हैं
जीवित लोग
मैं उम्मीद से देखता हूं मृतकों की ओर
वे ही हैं जो दिखते हैं जीवित।

यह मंगलेश डबराल के अभी 2020 में प्रकाशित, *स्मृति एक दूसरा समय है* कविता संग्रह की तीन छोटी कविताओं में से एक है। छोटी और अर्थपूर्ण। मंगलेश को क्या पता रहा होगा कि वे भी जल्दी ही उनमें से एक हो जानेवाले हैं, जो उन मृतकों में एक होंगे,जो दीखते रहेंगे, हमें जीवित। हम जो जीवित अपने भीतर मरते जा रहे हैं, उम्मीद से उनकी ओर देखा करेंगे। वैसे उनमें जीवन जीने की अदम्य इच्छा थी। जीवन से वे कभी हारे नहीं। उन्हें निजी अस्पताल से अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान(एम्स) में भर्ती किया जाये, यह उन्हीं का आग्रह था।

हारना तो जैसे आरंभ से उस शख़्स को आता ही नहीं था। हां, लड़ना-भिड़ना ख़ूब आता था। अपनी बात के लिए, ,कविता के लिए जगह बनाना आता था। अपनी कविताओं से ज़्यादा दूसरों की कविताओं के लिए यह काम उन्होंने अपने सुदीर्घ पत्रकारिता के दौरान किया और जहां भी रहे, वहीं रहकर किया।

जनसत्ता जिन वर्षों में सचमुच एक अख़बार हुआ करता था, तब उसने हिंदी और भारतीय भाषाओं की कविता और कवियों के लिए उसमें बहुत जगह बनायी बल्कि कविता के लिए ही क्यों, साहित्य और संस्कृति के लिए भी। जब दूसरे हिंदी अख़बार साहित्य और.संस्कृति से विमुख होने के लिए तत्पर हो चुके थे, तब *जनसत्ता* ने मंगलेश डबराल के रहते लगभग दो दशकों तक यह काम जम कर किया। शायद किसी दूसरे अख़बार ने कभी किसी साहित्य संपादक को इतने समय तक इस तरह का काम करने का मौक़ा भी नहीं दिया। अपने इस काम में किसी तरह का समझौता मंगलेश ने स्वीकार नहीं किया। उस समय की कोई बड़ी सांस्कृतिक-साहित्यिक हस्ती ऐसी नहीं थी, जिसकी *जनसत्ता* के साप्ताहिक संस्करण में चर्चा न हुई हो, जिसके महत्व को अच्छे ढंग से, विस्तार से रेखांकित न किया हो, हिंदी के पाठक को उससे अपरिचित रखा हो। यही बात युवा प्रतिभाओं के बारे में भी सच थी। यह काम मंगलेश ने अन्यत्र भी किया था, मगर *जनसत्ता* ने उसे दीर्घकालिक स्मृति का हिस्सा बना दिया। रघुवीर सहाय कभी जो काम, *दिनमान* के संपादक के नाते कर रहे थे, उसे साहित्य संपादक की अपनी सीमाओं में मंगलेश ने किया। जब रघुवीर जी *दिनमान* से बाहर कर दिये गये तो उनके लेखन का उपयोग अपने यहां मंगलेश ने उनसे स्तंभ लिखवाकर किया। अक्सर कवि की कविताओं की आभा में उसके इस तरह के योगदान को विस्मृत कर दिया जाता है।

जीवन के बहत्तर वर्ष पूरे कर चुका और पचास से भी अधिक वर्षों से लिख रहा यह कवि अभी भी बहुत कुछ कर रहा था और बहुत कुछ करने की इच्छा से प्रेरित था। मंगलेश जब अपने गांव, काफलपानी में रहते थे अभावों के बीच,जहां व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाएं भी मुश्किल से पहुंचती थीं, तब 1967-68 में ही छोटी पत्रिकाओं में उनकी कविताएं छपने लगी थीं। 1970 में जब अशोक वाजपेयी की आलोचना की पहली और उल्लेखनीय किताब, *फिलहाल* आयी थी, उसमें भी मंगलेश की एक आरंभिक कविता का ज़िक्र है, हालांकि वह उल्लेख कविता, कविता से विचारों की विदाई के संदर्भ में है।

मंगलेश के जानने वालों को लगता था कि वे कोरोना से भी नहीं हारेंगे। अभी एक दिसंबर को ही निजी अस्पताल के बिस्तर पर लेटे हुए अर्द्धचेतनावस्था में उन्होंने फ़ेसबुक पर कुछ लिखने-कहने की कोशिश की थी। पता नहीं यह कुछ कहने का प्रयत्न जैसा था या कुछ कह न पाने में असमर्थता का संकेत। इसके बाद, आल इंडिया मेडिकल इंस्टीट्यूट में भर्ती होने के बाद मृत्यु से चारेक दिन पहले तक मित्र रवींद्र त्रिपाठी से संक्षिप्त बात की थी। इससे लगता था कि 'एम्स' के कुशल डाक्टर और वे स्वयं आत्मबल से कोरोना संकट से बाहर निकल आयेंगे, बस समय लगेगा। मंगलेश की हालत से इतने लोग चिंतित थे और इतनों की शुभेच्छाएं उनके साथ थीं और हर तरह से सहयोग करने की इच्छाएं भी कि जिसकी कल्पना इस समय करना कठिन है।

वे हमारे समय के सबसे चर्चित और सबसे सक्रिय-सफल कवियों-लेखकों में थे। उनकी चौतरफ़ा तैयारी और सक्रियता नौजवान कवियों-लेखकों के लिए भी प्रेरक शायद रही हो। फ़ेसबुक पर उनकी सक्रियता भी ग़ज़ब थी। शायद ही कोई दिन जाता हो,जब किसी न किसी रूप में वे अपनी उपस्थिति दर्ज न कराते रहे हों। कई बार वे एक योद्धा की तरह कूद पड़ते थे, चाहे हमला उनके किसी कथन या कविता पर हो या कोई और व्यापक मुद्दा हो। मंगलेश की निगाहें साहित्य ही नहीं, हमारे समय के राजनीतिक विद्रूप पर भी ख़ूब थीं। वे इस समय जितना बेचैन, व्यथित और बदलाव की इच्छा से प्रेरित कवि थे, ऐसे हिंदी कवि इस समय कम मिलेंगे। इस हत्यारे समय की जैसी पहचान मंगलेश के अंतिम कविता संग्रह, *स्मृति एक दूसरा समय है* में है, वैसी कम मिलेगी। *हिटलर, तानाशाह, हत्यारों का घोषणापत्र, हत्यारा चाकू* आदि आदि उनकी अनेक कविताएं हैं। बाक़ी कविताओं में भी यह उपस्थिति नज़र आयेगी।

मंगलेश उन हारे-थके हुए कवियों में नहीं थे, जिनका वक़्त ने साथ छोड़ दिया, मगर जो वक़्त का हाथ ज़बर्दस्ती पकड़े हुए घिसट रहे हैं। वे अपार ऊर्जा से भरे हुए थे। अभी अक्टूबर के अंत में मुझे साथ लेकर मंगलेश ने बहुत बड़ी लेखक-कलाकार बिरादरी को बिहार चुनाव में धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के पक्ष में खड़ा किया था। यह कवि इस समय हिंदी कवियों में अपनी प्रसिद्धि के शिखर पर था। हमारी पीढ़ी के वे ऐसे अकेले कवि थे, जिनकी अंतरराष्ट्रीय पहचान भी इस बीच बनी थी। उनके कवि-मित्रों की बिरादरी भाषाओं और देशों के पार थी। जीवन में उनके कइयों से कई मतभेद रहे, मगर कवि-लेखक के रूप में उनकी प्रतिभा से शायद ही कभी कोई इनकार कर पाया हो, जबकि किसी को भी सिरे से नकार देने का रिवाज हमारी भाषा में बहुत है।

शमशेर बहादुर सिंह के अलावा उनके एक और आदर्श कवि रघुवीर सहाय थे, जिनसे उनकी व्यक्तिगत निकटता बहुत रही। 9 दिसंबर को रघुवीर जी का जन्मदिन था लेकिन अब यह दिन मंगलेश के हमसे बिछुड़ने के दिन की तरह शायद अधिक याद किया जाये। इसी दिन हिंदी के एक और फक्कड़ और बड़े कवि त्रिलोचन शास्त्री भी नहीं रहे थे और अब मंगलेश भी नहीं हैं।

1981 में प्रकाशित पहले कविता संग्रह, *पहाड़ पर लालटेन* से पहले ही हिंदी कविता की दुनिया में मंगलेश को बहुत सम्मान के साथ देखा जाता था। उनके दूसरे कविता संग्रह का नाम था, *घर का रास्ता*। वह रास्ता अपनी कविताओं में तो वे बार-बार तलाशते रहे मगर वास्तविक जीवन में उसे पाना इतना आसान कहां था! जब कोई अपना गांव घर छोड़कर दिल्ली-बंबई जैसे महानगर में आने को मजबूर हो जाता है तो फिर घर का रास्ता पता होने पर भी घर लौटना कहां आसान रह जाता है! मंगलेश की एक कविता का अंश है :

मैंने शहर को देखा और मैं मुस्कुराया
यहीं कोई कैसे रह सकता है
यह जानने मैं गया
और वापस न आया।

वे शुरू से विश्वासों से वामपंथी रहे और इसमें कभी विचलन नहीं आया। 2015 में जब साहित्य अकादमी ने अकादमी पुरस्कार प्राप्त लेखक एम.एम. कलबुर्गी की हत्या पर मौजूदा सत्ता के भय से अकादमी ने शोकसभा तक करने से इनकार कर दिया था, तो भारतीय भाषाओं के जिन क़रीब पचास लेखकों ने अपना विरोध व्यक्त करने के लिए अकादमी पुरस्कार लौटाया था, उनमें मंगलेश डबराल अग्रणी थे, जिसे हुक्मरानों ने और उस समय के अकादमी अध्यक्ष ने इसे कुछ लेखकों का षड्यंत्र तक बताया था और इन लेखकों को 'अवार्ड वापसी गैंग' कहा था। यह पुरस्कार मंगलेश को आज से 19 वर्ष पहले मिला था। उम्र के अस्सीवें वर्ष के बाद मिलनेवाले कुछ पुरस्कारों को छोड़ दें तो मंगलेश को सभी महत्वपूर्ण पुरस्कार मिले, मगर पुरस्कारों से अधिक महत्वपूर्ण होता है कविता की दुनिया में कवि का अकुंठ सम्मान।

इतने सम्मानों से नवाज़ा गया यह कवि सत्ता के विरोध के हर मंच पर उपस्थित रहता था, भले कवि के रूप में किसी समारोह में बुलाये जाने और उसके निमंत्रण को स्वीकार करने के बाद भी वे किसी कारण जाना टाल जायें, जो वे कई बार करते थे। वे उन कवियों-व्यक्तित्वों में रहेंगे, जिन्हें मृत्यु के बाद श्रद्धांजलि देकर फिर हमेशा के लिए भुला नहीं दिया जा सकता।

मो. 9810892198

आंतरिक जीवन

मंगलेश डबराल

मनुष्य एक साथ दो ज़िंदगियों में निवास करता है। एक बाहरी और एक भीतरी। एक ही समय में दो जगह होने से उसके मनुष्य होने की समग्रता का ख़ाक़ा निर्मित होता है। मेरा बाहरी जीवन मेरे चारों और फैला हुआ है। जहां भी जाता हूं वह दिखता ही रहता है। बाहरी जीवन में बहुत सी किताबें हैं, अलमारियों में करीने से रखी हुई शीशे के पल्लों के पीछे बंद। दुनिया में धूल और कई तरह की दूसरी गंदगियां बहुत हैं, इसलिए मैं उन्हें साफ़ करता, उलटता-पलटता, फ़ालतू लगने वाली किताबें छांट कर अलग कर देता और फिर वापस अलमारी में सजा देता जैसे एक माली पौधों की बेतरतीब शाखों-पत्तों को काट-छांट कर अलग कर देता है। इस तरह बाहरी जीवन एक बाग़ीचे की मानिंद खिला हुआ दिखता। मेरे कई फ़ोटो भी इसी पृष्ठभूमि के साथ खींचे गये। अलमारी के एक कोने में कुछ ऐसे ख़ाने भी हैं, जहां कुछ कम रोशनी रहती, जिनमें शीशे नहीं लगे थे और ऐसे तमाम तरह के काग़ज़ जमा होते रहते जिन्हें बाद में या फ़ुर्सत के वक़्त ज़्यादा गंभीरता से देखने के मकसद से ठूंस दिया जाता। शायद उनमें ऐसे क्षणों के दस्तावेज़ थे जिन्हें मैं उड़ने या नष्ट होने से बचाना चाहता था। समय-समय पर जब उनकी तरफ़ निगाह जाती तो लगता कि वे बहुत ज़रूरी हैं, लेकिन यह समझ में नहीं आता था कि इनमें क्या है और फिर आश्चर्य होता कि यह सब अंबार कब जमा होता रहा और क्यों इसकी छंटाई नहीं की गयी और इसे करीने से रखने में अब कितना ज़्यादा समय और श्रम लगने वाला है। उन ख़ानों में रखी हुई फ़ाइलें फूल रही थीं, काग़ज़ बाहर को निकल रहे थे और वहां अब कुछ और ठूंसना मुमकिन नहीं था। अंतत: मैंने उनकी सफ़ाई करने का बीड़ा उठाया, लेकिन जैसे ही उन्हें छुआ, आपस में सटाकर रखी गयीं फ़ाइलें गिर पड़ीं, बहुत सारे भुरभुराते काग़ज़ छितरा कर फट गये और धूल का एक बड़ा-सा बादल मेरे मुंह, नाक, आंखों और कानों में घुस गया। मैंने देखा, अरे यही है मेरा आंतरिक जीवन जो बाहरी जीवन के बिलकुल बग़ल में रखा हुआ था, जो अब धराशायी है, जिसके काग़ज़ भुरभुरा गये हैं, अक्षरों की स्याही उड़ गयी है, वाक्य इस क़दर धुंधले पड़ चुके हैं कि पढ़ने में नहीं आते और सब कुछ एक अबूझ लिपि में बदल चुका है।

बना रहेगा चांद सरे आसमां

प्रियदर्शन

2020 वाक़ई एक तकलीफ़देह साल रहा। करोड़ों लोग कोविड की चपेट में आये और लाखों की जान चली गयी। लेकिन इन आंकड़ों में उस ज़्यादा बड़े नुक़सान का अंदाज़ा नहीं मिलता जो इस अनजान वायरस की वजह से इंसानियत को उठाना पड़ा। दुनिया ने ऐसे कई लेखक, कलाकार और संस्कृतिकर्मी खो दिये, जिनका होना संवेदना और विचार की दुनिया को रोशन रखने के लिए ज़रूरी था। 2020 के इस मनहूस बरस में मौत के साये जैसे दस्ताने पहन कर घूमते रहे अपने साथ ऐसे कई लोगों को ले गये जिन्होंने हमारे समय को ही मायने नहीं दिये, हमारे माज़ी को भी हमारे लिए बचाये रखा।

हिंदी-उर्दू की साझा दुनिया को याद करें तो ख़याल आता है कि इस साल राहत इंदौरी और मंगलेश डबराल जैसे कवि और शायर हमसे बिछड़ गये जो सत्ता, सांप्रदायिकता और बाज़ार के हमले के ख़िलाफ़ प्रतिरोध की अलग-अलग पाठशालाओं के नाम थे।

साल का आख़िरी हमला बिल्कुल आख़िरी हफ़्ते आया। 25 दिसंबर को उर्दू और भारत के मशहूर लेखक और आलोचक शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी ने आंख मूंद ली। वे 85 साल के थे। इस उम्र में उन्हें कोविड-19 ने घेर लिया था। महीने भर से ऊपर लड़ते रहे, लेकिन देह आख़िरकार हार गयी।

कम लोगों को एहसास होगा कि शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी का इंतक़ाल हिंदुस्तानी तहज़ीब और अदबी रिवायत के लिए कितना बड़ा नुक़सान है। 2007 में शाया हुआ उनका उपन्यास, *कई चांद थे सरे आसमां* हिंदुस्तानी अदब की दुनिया में संगे मील से कुछ बड़ा ही साबित हुआ। इस उपन्यास का फैलाव कम से कम तीन सदियों को घेरता है और इसके दायरे में पेंटिंग, साहित्य, संस्कृति और सामाजिक जीवन सब चले आते हैं। उन्होंने इस उपन्यास में तारीख़ को जिस तरह दर्ज किया है, वह अपने ढंग से अनूठा है। आज के वक़्त इस बात का तसव्वुर करना आसान नहीं है कि बीती सदियों में लोगों का सामाजिक जीवन कैसा था, वे कैसे घरों में रहते थे, किस तरह कपड़े पहनते थे, किस तरह रोशनी का इंतज़ाम करते थे, जब पेंटिंग करना चाहते थे, तो रंग कहां से लाते थे, कूची कैसे बनाते थे, रंगों को अलग-अलग रंगतें कैसे देते थे।

कई चांद थे सरे आसमां की कहानी के केंद्र में वैसे तो शायर दाग़ की मां वज़ीर ख़ानम हैं लेकिन इसका सिलसिला बिल्कुल अठारहवीं सदी के शुरू से चल पड़ता है। किशनगढ़ का एक चित्रकार एक राजकुमारी की तस्वीर बनाता है जिसकी सूरत वाक़ई राजा की बेटी से मिलती-जुलती है। नाराज़ राजा अपनी बेटी को मार देता है और पूरे गांव को ख़ाली करने का आदेश देता है। किशनगढ़ के चित्रकारों का यह समूह वहां से भागता हुआ कश्मीर पहुंचता है। कश्मीर से उसके वारिस फिर राजपूताना लौटते हैं और उसके बाद दिल्ली लौटते हैं। यह कहानी कई पीढ़ियों और कम से कम दो सदियों तक फैली है जिसका ख़ुलासा भी यहां ठीक से मुमकिन नहीं। लेकिन यह कहानी कहते हुए फ़ारुक़ी साहब इतनी सारी चीज़ें बता जाते हैं कि हैरानी होती है। किशनगढ़ में सबसे अच्छी कूचियां कैसे बनती थीं, सबसे अच्छे रंग कैसे तैयार किये जाते थे और जब रेगिस्तान के इस रंग भरे माहौल से निकल कर चित्रकार कश्मीर के धूसर संसार में पहुंचे तो उनकी रचनात्मक चुनौतियां कैसे बदल गयीं - यह समझना दरअसल तभी मुमकिन है, जब लेखक कला और कलाकार की रूह और रोशनी को बिल्कुल सीधी-नंगी आंख से देख सके।

फ़ारुक़ी इस क्रम में राजस्थान की एक चित्र-शैली 'बनी-ठनी' को भी ले आते हैं। इस हिस्से को पढ़ते हुए बरबस ओरहान पामुक के उपन्यास *माई नेम इज़* रेड का ख़याल आता है जहां जिल्दसाज़ बता रहे होते हैं कि किताबों पर किस तरह वे सजाते हैं। यह अनायास नहीं है कि पामुक ने भी फ़ारुक़ी के इस उपन्यास की तारीफ़ की थी। इस उपन्यास में इसके अलावा बहुत सारी विधाएं, बहुत सारी शैलियां, बहुत सारी व्यवस्थाएं चली आती हैं- यहां तक कि उस समय की मशहूर ठगी की भी डराने वाली शक्ल हमें मिल जाती है। उपन्यास में मोहब्बत भी है, बग़ावत भी है, अंग्रेज़ों से टकराव भी है, आपसी अदावत भी है - ऐसा लगता है कि बादशाहों और उनकी फ़ौजों से लेकर तवायफ़ों और उनकी ग़ज़लों तक - और मुसव्विरी-मौसिक़ी से लेकर तलवारबाज़ी तक - जैसे हर दुनिया की एक चाबी शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी अपने साथ लिये चलते हैं। उनके बयान की रवानी भी ग़ज़ब है। रंगों के भीतर वे इतने रंग देख लेते हैं - इतने सारे हरे-नीले, आसमानी रंगों का वितान खड़ा कर देते हैं कि पाठक उनमें डूब जाये। इस उपन्यास में वज़ीर ख़ानम की ख़ूबसूरती का उनका बयान पढ़ने लायक़ है।

कृपया यह न समझें कि कई *चांद थे सरे आसमां* आसान या दिलचस्प उपन्यास है। यह हक़ीक़त है कि दुनिया के बड़े उपन्यास आसान या दिलचस्प नहीं होते। उन्हें धीरज से पढ़ना होता है। टॉल्स्टाय का, *वार एंड पीस* या दॉस्तोएव्स्की का, *क्राइम एंड पनिश्मेंट* आसान उपन्यास नहीं हैं। उन्हें पढ़ना एक गहरे समंदर में गोता लगाने जैसा है। आप जैसे-जैसे इस गहराई में उतरते हैं, आपके सामने तरह-तरह की दुनिया नमूदार होती जाती है,

ज़िंदगियों की बहुत सारी तहें खुलती जाती हैं और नीचे उतर कर वे मोती मिलते हैं जिन्हें हम मानी कहते हैं। भारतीय साहित्य की दुनिया में ऐसे मोती छानने वाले उपन्यास बेशक कम हैं। उर्दू की ही क़ुर्रतुलऐन हैदर के उपन्यास, *आग का दरिया* या मराठी के भालचंद्र नेमाड़े के उपन्यास, *हिंदू: सभ्यता का कबाड़* जैसे गिनती के उपन्यासों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। चाहें तो प्रेमचंद के *गोदान*, भगवतीचरण वर्मा के *सीधे-सच्चे लोग* या ताराशंकर वंद्योपाध्याय के, *गणदेवता* को भी इसके क़रीब रख सकते हैं क्योंकि एक पूरे समाज या कई पीढ़ियों की कहानी वहां मौजूद है।

मगर सिर्फ़ *कई चांद थे सरे आसमां* के लिए शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी को याद करना उनके पूरे योगदान के साथ नाइंसाफ़ी करना है। उनका रचनात्मक संसार कहीं ज़्यादा बड़ा है जिसमें कहानियां भी हैं और कविताएं भी। साथ ही जिसे तनक़ीद या आलोचना कहते हैं, उसमें भी शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी का काम काफ़ी अहम है। शमीम हन्फ़ी और गोपीचंद नारंग जैसे नक़्क़ादों के अलावा उर्दू आलोचना को जिन्होंने आधुनिक मिज़ाज दिया, उनमें फ़ारुक़ी का नाम ऊपर आता है। वे अनुवादक भी रहे। बरसों-बरस *शब ख़ून* नाम की पत्रिका के संपादक भी। मीर पर भी उनकी किताब मशहूर रही। इन दिनों दास्तानगोई के फ़न को अपनी तरह की शोहरत दिला रहे महमूद फ़ारुक़ी के मुताबिक़ इस खोयी हुई विधा की ओर उन्होंने ही ध्यान खींचा। वे न होते तो शायद महमूद की यह नयी दुनिया न होती।

लेकिन अब चांद बुझ गया है और आसमान सन्नाटे में है - वह भी ऐसे समय, जब उफ़क़ पर बहुत सारे बदनुमा साये छाये हुए हैं और हिंदुस्तान की मुकम्मल सांस्कृतिक पहचान को कई तरह के ख़तरे झेलने पड़ रहे हैं। इन सबके बीच शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी एक मशाल की तरह उम्मीद पैदा करते थे - बेशक, उनके लफ़्ज़ों की रोशनी बची हुई है जो हमारे भरोसे और हमारी पहचान को क़ायम रखेगी।

उनके इंतक़ाल की ख़बर सुनने के बाद इंटरनेट पर हिंदी में उनकी कविताएं खोजने की कोशिश की। रेख़्ता पर मिला एक मौज़ूं शेर 'बनायेंगे नयी दुनिया हम अपनी / तिरी दुनिया में अब रहना नहीं है।'

मो. 9811901398

लाइब्रेरी वाले फ़ारुक़ी साहब

रवीश कुमार

1995 के आसपास का वक़्त रहा होगा। किसी बातचीत में उनकी लाइब्रेरी का ज़िक्र सुना था। इलाहाबाद के घर में उनकी लाइब्रेरी के क़िस्से की छाप दिमाग़ में रह गयी। हम अपनी निजी चर्चाओं में लाइब्रेरी वाले फ़ारुक़ी साहब के तौर पर ही जानते थे। तब मैं उन्हें नहीं जानता था। कम पढ़ा लिखा होने का फ़ायदा यही है कि आप बहुत सी चीज़ें बहुतों के बाद जानकर उत्साहित हो रहे होते हैं। इसलिए मेरे भीतर के उत्साह बहुत बाद के उत्साह की तरह हैं। बारात के चले जाने के बाद शामियाने में गिरे बूंदी के दानों को देखकर रात के खाने का अंदाज़ा और अफ़सोस करने की बेक़रारी का अपना स्वाद होता है।

जब कई साल बाद उनकी रचना, *कई चांद थे आसमां*'(पेंग्विन प्रकाशन) पढ़ी तो उन्हें जानने लगा। वह भी इसलिए कि पहले ही पचास पन्नों ने जादू कर दिया था। बहुत कम लोगों से मिलने की तमन्ना रही जिनमें से शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी भी थे। दिमाग़ में उनकी ऐसी छवि बन गयी कि दो दो बार इलाहाबाद गया, याद भी रहा लेकिन हिम्मत नहीं हुई। यह होता है न कि ख़ानदान या दुनिया की किसी बड़ी शख़्सियत की आप इतनी इज़्ज़त करने लगते हैं कि उनके सामने से न गुज़रना भी इज़्ज़त करने में शुमार हो जाता है, जबकि महमूद और अनुषा के कारण मेरा मिलना कितना आसान था। सोचता ही रह गया कि जब उनके घर आयेंगे तो आराम से लंबी बातचीत होगी। ख़ैर।

मिलने से ज़्यादा उनकी लाइब्रेरी देखने की तमन्ना थी। देखा कब जिस दिन शम्सुर्रहमान फ़ारुक़ी इस दुनिया और अपनी लाइब्रेरी को हमेशा के लिए छोड़ गये। 25 दिसंबर की शाम महमूद फ़ारुक़ी ने वीडियो बना कर भेजा। अब कभी सामने से देखना होगा तो उनकी ग़ैरहाज़िरी में ही होगा। इस लाइब्रेरी को आप भी देखिए। देखकर भी बहुत कुछ पढ़ने लायक़ मिलेगा।

लेखक का कमरा हमेशा देखना चाहिए। एक कारख़ाना होता है जहां वह एक कारीगर की तरह अपने ख़यालों के कच्चे माल को तराश रहा होता है। फ़ारुक़ी साहब जैसे एक लेखक के बनने में कई लेखकों का साथ होता है। कई साल और कई हज़ार घंटे की तपस्या होती है। ये महज़ किताबें नहीं हैं, शम्स साहब के पुरखे हैं। दोस्त हैं। हमसफ़र हैं। कितनी तरतीब से रखी गयी हैं। शम्स साहब एक क़ाबिल मुहाफिज़-ए- क़ुतुब ख़ाना रहे होंगे। एक अच्छे आलोचक को बनने के लिए कितनी किताबों का जीवन जीना पड़ता होगा। आप इस वीडियो को देखते हुए जानेंगे कि लेखक होने या आलोचक होने की प्रक्रिया क्या होती है। शम्स साहब विद्वान माने गये तो यह ख़िताब खेल खेल में हासिल नहीं हुआ, बल्कि कमरे में कुर्सी पर जमकर लिखने पढ़ने से हुआ। आप जानेंगे कि एक लेखक की जीवन यात्रा कई किताबों की होती है।

शम्स साहब ने दास्तानगोई की दोबारा खोज की। दास्तानगो महमूद फ़ारुक़ी और बहुत से लोग *दास्ताने अमीर हमज़ा* से परिचित हुए तो उनकी वजह से। अब हम रोज़ नये नये दास्तानगो पैदा होते देखते हैं। क़िस्सा कहने की खो चुकी रवायत को ज़िंदा कर दिया और आबाद भी। कभी आप महमूद फ़ारुक़ी और मोहम्मद काज़िम की किताब, *दास्तानगोई* (राजकमल प्रकाशन) में दास्तान पर शम्स साहब का लिखा पढ़िएगा। चंद पन्नों में दास्तानगोई का जो ख़ाका पेश किया है वह कई किताबों से निकला सार है। इसी किताब में महमूद ने लिखा है कि '*दास्ताने अमीर हमज़ा* 46 जिल्दों या 45 हज़ार सफ़हात पर फैली एक अनोखी दास्तानों रिवायत, उसके किरदार, उसका असलूब, उसकी ज़बान, उसका तख़य्युल, आदमी किस किस चीज़ पर दम भरे।' आह!

बहरहाल आप शम्स साहब की लाइब्रेरी ज़रूर देखें। किताबों को प्यार करें। पढ़ें। 'पढ़ोगे लिखोगे तो बनोगे नवाब।' पढ़ने वाला नवाब होता है। यह मुहावरा भी हमारी मिट्टी का है। पढ़ने का एक फ़ायदा होता है। जो आप कल थे वह आज नहीं होते हैं और जो आज होते हैं वह कल नहीं होते। हर दिन कुछ नया हो जाते हैं।

अलविदा फ़ारुक़ी साहब।

(रवीश कुमार की अनुमति से उनके ब्लॉग से साभार)

'जाति का विनाश' हिंदू धर्म से मुक्ति के बिना संभव नहीं है

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

अरुंधति रॉय की दृष्टि में जाति व्यवस्था 'एक क्रूर संस्थागत सामाजिक अन्याय' है, जिस पर अनेक 'विद्वानों' ने चाहे तो आलेख लिखे हैं या पुस्तकें लिखी हैं। जाति व्यवस्था पर इस लेख में मूलतः सात पुस्तकों की चर्चा की गयी है। स्वाभाविक रूप से पहली पुस्तक डॉ. भीमराव आंबेडकर का भाषण है, जो कभी दिया नहीं गया, परंतु इस भाषण को पुस्तक रूप में डॉ. आंबेडकर ने *जाति का विनाश नाम* से प्रकाशित करवा दिया। यह पुस्तक मुख्य रूप में एक भाषण है जिसे 'जात-पात तोड़क मंडल' के आग्रह पर डॉ. आंबेडकर ने तैयार किया था। 2018 में इसका अधिकृत अनुवाद राजकिशोर जी ने किया जिसे फ़ारवर्ड प्रेस ने प्रकाशित किया है। यह वस्तुतः हिंदी अनुवादों की शृंखला में तीसरी कड़ी है जो तीसरे संस्करण के रूप में छपी है।

दूसरी पुस्तक, *कल्चरल रिवोल्ट इन ए कॉलोनियल सोसाइटी- द नॉन-ब्राह्मण मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया* है, जिसका प्रकाशन 1976 में हो गया था। इसकी लेखिका हैं गेल आमवेट। यह कैलीफ़ोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले (अमेरिका) के समाजशास्त्र विभाग से स्वीकृत शोधप्रबंध है। इस पुस्तक में 1873 से 1930 तक का लेखा-जोखा है।

तीसरी पुस्तक, *कास्ट चैलेंज़ इन इंडिया* जगजीवन राम द्वारा लिखित है। यह पुस्तक विजन बुक्स, नयी दिल्ली ने सन् 1980 में प्रकाशित की थी।

चौथी पुस्तक सी.पी.आई. के चिंतक और लेखक एस.जी. सरदेसाई द्वारा लिखित, *ग्रामीण इलाक़ों में वर्गसंघर्ष और जातिगत टकराव* के नाम से 1979 में प्रकाशित हुई थी। सी.पी.आई. ने इसे प्रकाशित किया था।

पांचवीं पुस्तक है, *जाति और वर्ग* जिसके लेखक हैं बी.टी. रणदिवे और इसे 1981 में नेशनल बुक सेंटर, नयी दिल्ली ने प्रकाशित किया था।

छठी पुस्तक अरुंधति रॉय ने लिखी। इस पुस्तक का नाम है, *एक था डॉक्टर, एक था संत* और यह 2019 में प्रकाशित हुई है। इसे राजकमल प्रकाशन ने छापा है।

सातवीं पुस्तक है, *जाति-व्यवस्था और पितृसत्ता* जिसके लेखक हैं तमिलनाडु के ब्राह्मणवाद और हिंदुत्व विरोध के प्रतीक पेरियार ई.वी. रामासामी। इसका संपादन प्रमोद रंजन ने किया है। यह पुस्तक अभी-अभी 2020 में प्रकाशित हुई है। इसे राधाकृष्ण प्रकाशन ने प्रकाशित किया है। इनके अलावा भी पर्याप्त पुस्तकें जाति-व्यवस्था पर हिंदी और अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई हैं।

फ़िलहाल इन सात पुस्तकों की चर्चा तक ही यह लेख सीमित है।

पहली पुस्तक का नाम तो है, *जाति का विनाश*, पर इसमें दिये न जा सके भाषण के अलावा मानव विज्ञान के सेमिनार में डॉ. आंबेडकर द्वारा प्रस्तुत आलेख जो कोलंबिया विश्वविद्यालय में पढ़ा गया था, उसे भी सम्मिलित कर लिया गया है। आलेख का नाम है, 'भारत में जातियां, उनका तंत्र, उत्पत्ति और विकास।'

अनुवादक राजकिशोर ने पुस्तक के बारे में लिखते हुए यह बताया है कि मूल रूप से यह पुस्तक नहीं, एक व्याख्यान है, जिसे 'जातपात तोड़क मंडल', लाहौर के वार्षिक अधिवेशन, 1936 के अध्यक्ष पद से पढ़ने के लिए डॉ. आंबेडकर ने तैयार किया था। लेकिन कार्यक्रमों के आयोजकों ने जब व्याख्यान का प्रारूप देखा, तब वे इसकी विषयवस्तु और प्रतिपादन से तो बहुत प्रभावित हुए, लेकिन इसके कुछ अंशों पर उन्हें गंभीर आपत्ति थी। ख़ासकर व्याख्यान में की गयी इस घोषणा पर कि एक हिंदू रूप में यह डॉ. आंबेडकर का आख़िरी भाषण है, क्योंकि तब तक वे धर्मपरिवर्तन करने का निर्णय कर चुके थे। आयोजकों ने व्याख्यान के कुछ अंशों को हटा देने का अनुरोध किया, लेकिन डॉक्टर साहब को यह स्वीकार्य नहीं हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि वह अधिवेशन ही स्थगित कर दिया गया, जिसमें यह व्याख्यान पढ़ा जाना था। पुस्तक के दूसरे संस्करण की भूमिका में डॉ. आंबेडकर ने 1937 में लिखा था, 'अगर मैं हिंदुओं को महसूस करा पाता हूं कि वे भारत के बीमार लोग हैं, और उनकी बीमारी अन्य भारतीयों के स्वास्थ्य और ख़ुशी के लिए ख़तरे पैदा कर रही है, तो मेरी संतुष्टि के लिए इतना काफ़ी होगा।'

'जातपात तोड़क मंडल' की तरफ़ से भेजे गये विशेष दूत श्री हरभगवान ने 22/4/1936 को जो पत्र डॉ. आंबेडकर के पास भेजा था, उसमें व्याख्यान के आपत्तिजनक अंशों का उल्लेख करते हुए श्री हरभगवान ने लिखा था, 'व्याख्यान का आख़िरी भाग, जिसमें हिंदू धर्म के संपूर्ण विनाश और हिंदुओं की पवित्र पुस्तकों की नैतिकता पर संदेह की चर्चा है, साथ ही हिंदुत्व के दायरे से बाहर आने की आपकी इच्छा के बारे में संकेत है, मुझे प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता है।' इसके साथ ही उक्त पत्र में ही श्री हरभगवान ने यह भी लिखा था, 'इस व्याख्यान को अनावश्यक रूप से उत्तेजक और चुभनदार बनाने की बुद्धिमत्ता पर हमें संदेह है।' *जाति का विनाश* पुस्तक में डॉ. आंबेडकर ने यह स्पष्ट कहा है, 'अगर आप इस व्यवस्था को कहीं से

भी भंग करना चाहते हैं, तो आपको वेदों और शास्त्रों में डायनामाइट लगा देना होगा जो तर्कसंगतता की किसी भी भूमिका का निषेध करते हैं; वेदों और शास्त्रों को, जो नैतिकता की किसी भी भूमिका का निषेध करते हैं। आपको श्रुतियों और स्मृतियों के धर्म को नष्ट कर देना होगा और कोई भी उपाय काम नहीं करेगा। इस विषय पर मेरा यह सुचिंतित विचार है। (पृ.113) इसके अलावा इस पुस्तक में खुले तौर पर यह माना गया है कि 'सरल शब्दों में कहा जाये, तो हिंदू जिसे धर्म कहते हैं, वह वस्तुतः क़ानून है, सर्वोत्तमतः एक वर्ग नैतिकता का क़ानूनी रूप है। (पृ.115) इसके अतिरिक्त डॉ. आंबेडकर यह स्वीकार करते हैं, 'अतः यह कहने में मुझे कोई हिचक नहीं है कि इस तरह के धर्म को अवश्य नष्ट कर देना चाहिए और मैं कहता हूं कि इस प्रकार के धर्म को नष्ट कर देने में कुछ भी अधार्मिक नहीं है। (पृ.116)

'जाति के विनाश' की आवश्यकता के क्रम में इस प्रकार के धर्म को नष्ट करने की आवश्यकता से जोड़ कर रखने की वजह से यह पुस्तक बुद्धि और तर्क की एक निधि बन गयी है। पर 'जातपात तोड़क मंडल' के पदाधिकारियों को यह मान्यता बहुत बुरी लगी, अतः इस व्याख्यान पर पाबंदी लगाने के उद्देश्य से अधिवेशन ही 1936 में स्थगित कर दिया गया। इस पुस्तक में सामाजिक सुधार को प्राथमिकता देने पर ज़ोर दिया गया है। इसके अतिरिक्त जाति के प्रश्न को समाज और इतिहास के विभिन्न संदर्भों में व्याख्यायित और परिभाषित किया गया है।

दूसरी पुस्तक गेल आमवेट की है। इस पुस्तक का नाम है, *कल्चरल रिवोल्ट इन ए कॉलोनियल सोसाइटी-द नन-ब्राह्मण मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया*। 'द साइंटिफ़िक सोशलिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट' ने इसे 1976 में प्रकाशित किया था। समूचे महाराष्ट्र पर अपनी विचारधारात्मक छाप अंकित करने वाले ब्राह्मणविरोधी आंदोलन को भी लेखिका ने अपने शोधप्रबंध में समाहित किया है। लेखिका के विवेचन के केंद्र में ज्योतिबा को भी रखा गया है। ज्योतिबा एक महान जनवादी आंदोलन के प्रवर्तक थे। वे ग़रीबों और उत्पीड़ितों से गहरी हमदर्दी रखते थे। किसी भी प्रकार के जातिवादी पूर्वग्रह से वे मुक्त थे। विधवा विवाह, शिक्षा, शराब की दूकानें, जातिगत शोषण, अफ़सरशाही द्वारा दमन, बेदख़ली, भारत की आर्थिक लूट, जनता के पैसे से वायसराय का स्वागत - इन सभी मुद्दों पर अत्यंत निर्भीक ढंग से वे लड़ते रहे। उनका सत्यशोधक आंदोलन ब्राह्मणों के प्रभुत्व के विरुद्ध था। इससे यह ज़ाहिर होता है कि ज्योतिबा का आंदोलन ब्राह्मणविरोधी था। इसलिए कि उस समय हिंदू व्यवस्था में ब्राह्मण ही सर्वोपरि थे। पेशवा बाजीराव द्वितीय के शासन की खरी-खरी आलोचना करने में ज्योतिबा ने कभी कोताही नहीं की। ज्योतिबा के आंदोलन के दौरान तमाम तरह की रपटें *लोकहितवादी* में छपीं जो जनता के उत्पीड़न को व्यक्त करती थीं।

गेल आमवेट ने महाराष्ट्र के ब्राह्मणवाद-विरोधी आंदोलन के व्यापक प्रसार पर लिखने के क्रम में ज्योतिबा के अतिरिक्त शाहू महाराज पर लिखा है जो स्वयं तो सामंती राजकुमार थे किंतु ब्रिटिश राज के प्रति वफ़ादार थे। शाहू महाराज का जनता के आर्थिक शोषण को लेकर जनवादी रवैया नहीं था। ज्योतिबा और शाहू महाराज के दृष्टिकोणों के अंतर को लेखिका ने अच्छी तरह स्पष्ट किया है। लेखिका ने सही टिप्पणी की है, 'दरअसल शाहू महराज रुढ़िवादी थे। उन्हें इस बात की चिंता अधिक थी कि उनका वंश अशुद्ध न माना जाये।' लेखिका ने शाहू महाराज के नेतृत्व में चले शुरुआती आंदोलन और परवर्ती आंदोलन का भेद स्पष्ट किया है :

> होस्टलों में छात्र जीवन को इस तरह और इस आधार पर प्रेरित किया जाता था कि उनका विकास अलग-अलग जाति के रूप में हो और उनकी आत्मा उदार हो। शाहू जी महाराज विभिन्न समुदायों के बीच के भेदभाव को सीधे-सीधे समाप्त किये बिना ही सामाजिक उत्थान चाहते थे। समस्या यह थी कि अलग-अलग जातिगत स्वाभिमान का यह रूप दक़ियानूसी था क्योंकि यह स्वाभिमान जातियों की असली एकता के रास्ते में बाधा पहुंचाता था। यद्यपि शाहू जी महाराज को शिक्षाप्रसार के लिए आर्यसमाज पर आश्रित होना पड़ा। फिर भी अछूतों के मामले में वे प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय देते रहे।

ज्योतिबा की मृत्यु 1890 में हुई। उनकी मृत्यु के बाद सत्यशोधक सिद्धांतो का क्रांतिकारी सार धीरे-धीरे समाप्त होता गया। चूंकि गेल आमवेट की पुस्तक राष्ट्रीय आंदोलन और साम्राज्यवाद-विरोधी संदर्भों से कटकर लिखी गयी है, अतः इसमें काफ़ी त्रुटियां हैं। 'जाति के विनाश' का दृष्टिकोण इस किताब में कहीं-कहीं हल्के ढंग से व्यक्त हुआ है।

कांग्रेसी मंत्रिमंडल में लंबे अरसे तक मंत्री रह चुके दलित नेता जगजीवन राम ने अपनी पुस्तक, *कास्ट चैलेंज इन इंडिया* में अछूतों के बारे में बड़े भावावेश के साथ लिखा है। यह पुस्तक समय-समय पर उनके दिये गये व्याख्यानों का संकलन है। वे बार-बार यह घोषित करते हैं कि जातिवाद जनतंत्र और समान नागरिक अधिकारों का शत्रु है। उन्होंने यह स्वीकार किया है :

> जातिवादी व्यवस्था का प्रभाव इतना घातक और साथ ही सर्वव्यापी है कि पिछड़े हुए समुदाय जो कि हमारी आबादी का बहुसंख्यक हिस्सा हैं, इन जंज़ीरों को तोड़ने के बजाय ऊंची जातियों के रीतिरिवाजों की नक़ल करने की ही कोशिश करते हैं - यदि खुद अछूत समुदाय के भीतर छुआछूत का इतना बोलबाला है तो इसे ब्राह्मणों की ईमानदार किंतु भोंडी नक़ल के रूप में ही समझा जा सकता है। (पृ.21)

यह एक सर्वविदित हक़ीक़त है कि जातिवाद ऊंची जातियों तक सीमित नहीं है। निचली जातियों, यहां तक कि अछूतों के भी कुछ हिस्से दूसरों को अपने से नीचा मानकर उनसे छुआछूत का व्यवहार करते हैं। इस समस्या की गहरी जड़ें हमारी सड़ी-गली खेतिहर व्यवस्था में जमी हुई हैं जो हमें विरासत में मिली हैं। पृ.20 पर जगजीवन राम ने गांधी को अछूतों के उद्धारकर्ता के रूप में देखा है। वे लिखते हैं, 'जिस व्यापक एकता और मेलमिलाप को गांधी जी देखना चाहते थे उसका दूसरा ज़रिया यह था कि छुआछूत का ख़ात्मा हो और अपने ही पूरे पवित्र रूप में चातुर्वर्ण व्यवस्था का पुनरुत्थान हो। महीने-दर-महीने, हफ़्ते-दर-हफ़्ते, 'यंग इंडिया' और बाद में 'हरिजन' में गांधी जी के लेखों की विषयवस्तु यही रही थी। (पृ.24)

इसके बावजूद जगजीवन राम कहते हैं कि 'गांधी ने जाति व्यवस्था की जड़ों को हिला दिया।'यह अंतर्विरोधपूर्ण वक्तव्य है। पूरी पुस्तक में कांग्रेसी मंत्रिमंडल को लेकर जगजीवन राम चुप हैं। ऐसी कोई भी टिप्पणी नहीं करते कि कांग्रेस ने जातिवाद के विनाश के संदर्भ में कोई क़दम क्यों नहीं उठाया।

चौथी महत्त्वपूर्ण पुस्तक, एस.जी. सरदेसाई ने 1979 में लिखी और इसका नाम है, *ग्रामीण इलाक़ों में वर्गसंघर्ष और जातिगत टकराव*। ग्रामीण क्षेत्र की ग़रीब जनता (भूमिहीन तथा ग़रीब किसान) के संघर्ष के साथ जातिगत प्रभुत्व और असमानता के विरुद्ध संघर्ष को संयुक्त करना एक अनिवार्य और ज्वलंत आवश्यकता है। सरदेसाई यह मानते हैं कि खेतिहर मज़दूरों और ग़रीब किसानों द्वारा भूमि के लिए, उच्चतर मज़दूरियों के लिए और ऋण-दासता के उन्मूलन के लिए किया जाने वाला संघर्ष जातिगत अन्यायों, भेदभावों तथा विद्वेष के विरुद्ध साथ ही साथ युद्ध किये बग़ैर कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं कर सकता। श्रमिक जनता के वर्गसंघर्ष पर दृढ़ता से आधारित, जातिवाद और उसकी बुराइयों के विरुद्ध निरंतर चलाया जाने वाला सैद्धांतिक और व्यावहारिक संघर्ष ही समय की प्रक्रिया के दौरान जातिवाद की समस्या के समाधान की ओर हमें ले जा सकता है। यह भी याद रखने की ज़रूरत है कि गहराते आर्थिक संकट तथा जन-असंतोष का सामना करने वाला पूंजीपति वर्ग, श्रमिक जनता में फूट डालने तथा उस पर आक्रमण करने हेतु जाति के अस्त्र का इस्तेमाल करने के लिए हमेशा से तत्पर है।

पांचवीं महत्त्वपूर्ण पुस्तक बी.टी. रणदिवे की *जाति और वर्ग* है। इस पुस्तक की भूमिका में बी.टी.आर. ने कहा है : 'जातिवाद की समस्या का समाधान कृषि संबंधों के सामंती तथा अर्द्ध-सामंती ढांचे को ख़त्म करने में निहित था, किंतु नेतागण इसके लिए क़तई तैयार नहीं थे।'

केवल कम्युनिस्ट पार्टी ही वह पार्टी है जिसने अपने उद्भव काल से ही लगातार अस्पृश्यता और जातिवाद के विरुद्ध सही समझदारी का परिचय दिया है। रणदिवे की मान्यता है कि क्योंकि 'उसने इस समस्या को कृषि क्रांति के सवाल से जोड़ा है।' भूमिका में यह भी कहा गया है, 'इसके अलावा जनसंगठनों के लिए भी यह लाज़मी है कि वे अस्पृश्यों, आदिवासियों तथा दलित जातियों की समस्या पर विशेष ध्यान दें और इस काम को भी दबे-कुचले तबक़ों को एकजुट करने के कार्य का ही एक हिस्सा समझें। इसके बाद ही एकजुट मेहनतकशों की शक्तिशाली वाहिनी निर्णायक रूप से कृषिक्रांति के लिए जूझ सकेगी और जातिगत भेदभाव तथा अस्पृश्यों की भूदासता के आधार को ध्वस्त कर सकेगी।'

यह भी ध्यान रखने की ज़रूरत है कि अंग्रेज़, जहां तक संभव हो सका, ग्रामीण भूमि संबंधों को ज्यों का त्यों सुरक्षित करते रहे। अंग्रेज़ी शासन सामंतों पर निर्भर करता था। निर्भर करने का अर्थ था जातिप्रथा तथा चले आते हुए संपत्ति संबंधों को समर्थन देना। सिर्फ़ अंग्रेज़ ही नहीं, हिंदू उच्च जातियों से आने वाले राष्ट्रीय नेता भी जातिप्रथा के साथ समझौता करना चाहते थे। इसी सिलसिले में राष्ट्रीय नेता और बुद्धिजीवी समुदाय पुनरुत्थानवादी सोच और विचारधारा की ओर मुड़ गये। प्राचीन परंपरा की हर चीज़, यहां तक कि बुराइयों, विशेषाधिकारों और पोंगापंथी विचारों तक को आदर और सम्मान दिया गया। 1921 में ही राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने यह घोषणा कर दी थी कि वे सनातनी हिंदू हैं।
उन्होंने कहा था :

> मैं स्वयं को सनातनी हिंदू मानता हूं क्योंकि (1) मैं *वेद, उपनिषद, पुराण* तथा सारे हिंदू धर्म ग्रंथों में और इसीलिए अवतारों तथा पुनर्जन्म में विश्वास करता हूँ। (2) मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास रखता हूं। उसके मौजूदा आमफ़हम तथा भद्दे रूप में नहीं बल्कि उसे वैदिक रूप में। (3) मैं गौरक्षा में विश्वास रखता हूं-आमतौर पर इससे लिये जाने वाले अर्थ से भी कहीं व्यापक अर्थ में और (4) मैं मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं करता।

इन उद्घोषणाओं के प्रति भद्दे से भद्दे अर्थ में भी भारतीय जनता पार्टी और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का गहरा विश्वास है। डॉ. आंबेडकर के प्रति अपना समर्थन व्यक्त करने के बावजूद। भीमा-कोरेगांव से संबंधित मुक़दमे और उसके तहत भाजपा-शासन के तहत गिरफ़्तारियां इसका पक्का सबूत पेश करती हैं। भाजपा-शासन नयी पेशवाई कर रहा है। दलितों को नियंत्रित करने के संसाधनों में हिंदू धर्मशास्त्र के साथ हिंदू-राष्ट्रवाद को भी आज शामिल कर लिया गया है।

हिंदू समाज के अन्यायों से मुक्त होने के लिए आंबेडकर द्वारा अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने और हिंदू धर्म का परित्याग करने का कोई परिणाम नहीं निकला। यहां तक कि आंबेडकर हमारे संविधान के प्रमुख निर्माताओं में से हैं। यह वही संविधान है जिसके अंतर्गत अछूतों के घर जलाये जाते हैं, उनके घर लूटे जाते हैं, उनकी औरतों के साथ बलात्कार किया जाता है, उनकी हत्याएं होती हैं, अचरज की बात नहीं है अगर आंबेडकर को महसूस हुआ हो कि उन्हें धोखा दिया गया है।

छठी पुस्तक, अरुंधति रॉय द्वारा लिखी गयी है। इसका नाम है, *एक था डॉक्टर, एक था संत*।
अरुंधति रॉय ने अछूतों पर किये जा रहे अन्याय और अत्याचार की पूरी दास्तान प्रस्तुत की है। वे कहती हैं :

> राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो के अनुसार प्रति सोलह मिनट में, एक दलित के विरुद्ध किसी ग़ैर-दलित द्वारा अपराध किया जाता है। प्रतिदिन चार से अधिक अछूत महिलाओं का ग़ैर-अछूत द्वारा बलात्कार किया जाता है। प्रत्येक सप्ताह तेरह दलितों की हत्या होती है और छह दलितों का अपहरण होता है। (पृ.17)

ऊंची जातियों के लोग जाति-व्यवस्था की भर्त्सना और निषेध नहीं करते। अरुंधति ने खुलेआम यह स्पष्ट किया है कि 'जाति के पिरामिड की चोटी पर बैठे लोगों को पवित्र माना जाता है और उनके बहुत सारे विशेषाधिकार हैं। पिरामिड के तल पर बैठे लोगों को मलिन, प्रदूषित माना जाता है, उन्हें कोई अधिकार तो नहीं है लेकिन ढेरों कर्तव्य ज़रूर हैं। मलिनता-पवित्रता का फ़ार्मूला, असल में पैतृक व्यवसाय और एक विस्तृत जाति-आधारित व्यवस्था से जुड़ा हुआ है।' (पृ.19)

वर्ष1916 में मद्रास के एक मिशनरी सम्मेलन में दिये गये एक भाषण में महात्मा गांधी ने कहा था, 'एक राष्ट्र जो जाति-व्यवस्था उत्पन्न करने में सक्षम हो उसकी अद्भुत सांगठनिक क्षमता को नकार पाना संभव नहीं।'

अनुसूचित जाति एवं जनजाति के राष्ट्रीय आयोग की रिपोर्ट के अनुसार, भारतीय न्यायिक सेवाओं में दलित और आदिवासी के प्रतिनिधित्व के आंकड़े बहुत ही चिंताजनक हैं। दिल्ली उच्च न्यायालय के 20 जजों में एक भी अनुसूचित जाति से नहीं है और बाक़ी न्यायिक पदों पर आंकड़ा 1.2 प्रतिशत है।

अरुंधति रॉय ने सच्चर कमेटी की रिपोर्ट का हवाला देकर बताया है कि दलित और आदिवासी अब भी आर्थिक पिरामिड के सबसे निचले तल्ले पर रहते हैं, जहां वे हमेशा से थे, मुस्लिम समुदाय के ठीक नीचे। जिन्हें सफ़ाईकर्मी कहा जाता है, जो गटर की गहराई में उतरते हैं और सीवेज व्यवस्था की सफ़ाई करते हैं, जो शौचालय साफ़ करते हैं और जिन्हें नीच घटिया काम करने के लिए निर्दिष्ट किया गया है - ऐसे सभी लोग दलित हैं। पुस्तक की भूमिका में डॉ. आंबेडकर की तुलना में गांधी की भूमिका पर उठाये गये प्रश्नों का समाहार करते हुए अरुंधति रॉय कहती हैं :

> आधुनिक दुनिया, विषेशकर पश्चिमी दुनिया की स्मृति में गांधी को जो असाधारण, लगभग दैवीय स्थान दिया गया है, उसकी वजह से मैंने महसूस किया कि जबतक गांधी के प्रभावशाली वक्तव्य के अंश को ठीक से नहीं देखा जाता, तब तक डॉ. आंबेडकर के रोष को पूरी तरह से समझा नहीं जा सकता। परिणाम यह है कि इस क्रूर संस्थागत सामाजिक अन्याय को अनदेखा करने की और छिपाने की परियोजना, अबाध गति से और बिना किसी अड़चन के जारी रहेगी।

सातवीं महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, *जाति-व्यवस्था और पितृसत्ता*। इसके लेखक पेरियार ई.वी. रामासामी हैं। इस पुस्तक में पांच लेख जाति-व्यवस्था पर केंद्रित हैं : (1) जाति-व्यवस्था, (2) जाति के बारे में, (3) जाति-व्यवस्था की कार्यपद्धति, (4) जाति और चरित्र तथा (5) जाति-व्यवस्था का क्षय हो।

ब्राह्मणवाद के विरुद्ध अनथक संघर्ष करने वाले पेरियार दलित जातियों के मुक्तिदाता के रूप में प्रसिद्ध हैं। तमिलनाडु में लोकप्रिय और महत्त्वपूर्ण वेलाला जाति पंचम जाति (अस्पृश्य) में आती है। इस जाति के लोग उन ब्राह्मण और क्षत्रिय युवतियों की संतान हैं जिन्होंने अन्य वर्ण के पुरुषों के साथ मेल किया। पेरियार ने आह्वान किया कि इस जाति-व्यवस्था का विनाश करें। चूंकि जाति-व्यवस्था की प्रकृति धूर्ततापूर्ण है, पेरियार मानते थे कि कोई तार्किक अथवा आत्मगौरव संपन्न व्यक्ति इस जाति व्यवस्था को स्वीकार नहीं कर सकता।

'जाति-व्यवस्था की कार्यपद्धति' शीर्षक लेख में पेरियार डॉ. आंबेडकर की तरह यह मान्यता प्रस्तुत करते हैं कि 'अस्पृश्यता या जाति के समापन के लिए सबसे पहले आपको अपने धर्म को नष्ट करना होगा। अगर आप ऐसा नहीं कर सकते हैं तो कम से कम धर्म को त्यागने का साहस करिए! यह बात स्थापित तथ्य है कि जब तक धर्म समाप्त नहीं होता है, तब तक अस्पश्यता को समाप्त नहीं किया जा सकता है।' (पृ. 41-42)

गांधी या कांग्रेस के नारों के तहत जिस स्वराज की बात की जाती है, उसका सारांश प्रस्तुत करते हुए पेरियार कहते हैं, 'स्वराज्य कुछ और नहीं, बल्कि रामराज्य, *गीता* राज्य, *मनुस्मृति* का शासन ही है'। (पृ.42)

त्रिची में 29 सितंबर 1929 को दिये गये पेरियार के व्याख्यान का अनुवाद अंग्रेज़ी से पूजा सिंह ने किया है। इस व्याख्यान में दो टूक शब्दों में पेरियार ने यह कहा कि 'उच्च जाति के धूर्त व्यक्तियों ने अत्यंत धूर्ततापूर्वक जाति और धर्म को आपस में जोड़ दिया ताकि उनको अलग करना मुश्किल हो जाये'। (पृ.55)

इन सातों पुस्तकों में डॉ. आंबेडकर द्वारा तैयार किया गया व्याख्यान, *जाति का विनाश* एक महत्तम कृति है। इस पुस्तक में समाज और इतिहास की मिसालें देकर जाति व्यवस्था की व्यर्थता पर विस्तार से विचार किया गया है। *जाति का विनाश* पुस्तक रूप में एक क्लासिकल कृति है। इसे स्कूल और विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों से अभी तक दूर रखा गया है। इसलिए नयी पीढ़ी जाति व्यवस्था के पक्ष विपक्ष में ठीक से सोच नहीं पाती है। वर्ग संघर्ष के लगातार प्रयत्नों से ही जाति व्यवस्था का विनाश संभव है।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के दौर में सर्वाधिक पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी के रूप में डॉ. आंबेडकर एक महान व्यक्तित्व थे। उन्हें याद करना यदि आवश्यक है तो पाठ्यक्रमों में उनकी किताबें निर्धारित होनी चाहिए।

मो. 9818859545

पुस्तक संदर्भ

1. *जाति का विनाश* : डॉ. आंबेडकर, अनुवादक: राजकिशोर, फारवर्ड प्रेस, दिल्ली, 2018

2. *कल्चरल रिवोल्ट इन ए कॉलोनियल सोसाइटी-द नन-ब्राह्मण मूवमेंट इन वेस्टर्न इंडिया* :
गेल आमवेट, द साइंटिफ़िक सोशलिस्ट एजुकेशन ट्रस्ट, मुंबई, 1976

3. *कास्ट चैलेंज इन इंडिया* : जगजीवन राम, विजन बुक्स, दिल्ली, 1980

4. *ग्रामीण इलाक़ों में वर्ग-संघर्ष और जातिगत टकराव* : एस.जी. सरदेसाई, सी.पी.आई. दिल्ली, 1979

5. *जाति और वर्ग* : बी.टी. रणदिवे, नेशनल बुक सेंटर, दिल्ली, 1981

6. *एक था डॉक्टर, एक था संत* : अरुंधति रॉय, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019

7. *जाति व्यवस्था और पितृसत्ता*: ई.वी. रामासामी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2020

गंगा जमनी तहज़ीब के दो शायर

हृदयेश मयंक

1. *हर्फ़े इंकार*: याक़ूब राही *:* सब तो यहां अपने-अपने उजालों में गुम हैं

याक़ूब राही कहते हैं कि 'बीसवीं सदी ख़त्म होने को है, इसी सदी में विभाजित होकर भारत हसीन ख़्वाबों के साथ आज़ाद भी हुआ और अब धीरे-धीरे पाश-पाश ख़्वाबों की ख़लिश बनकर एक बार फिर अनोखी आर्थिक ग़ुलामी, राजनीतिक माफ़ियागर्दी, मज़हबी और सांस्कृतिक फ़ासिज़्म के शिकंजे में जकड़ता जा रहा है। मेरी शायरी इसी भारत के घायल, लेकिन संवेदनशील हृदय की आवाज़ है और इक्कीसवीं सदी के संभावित संघर्ष का *हर्फ़े-आगाज़*।' यहां हमें पीछे मुड़कर देखना होगा कि हम बीसवीं सदी के किन-किन अंतर्विरोधों से गुज़रे हैं। इस सदी में रूस में बोलशेविक क्रांति हुई। औपनिवेशिक ग़ुलामी से ढेर सारे मुल्कों को मुक्ति मिली। नस्लवाद के ख़िलाफ़ युद्ध हुए, स्त्रियों की जागृति हुई। सामाजिक न्याय, समानता, बंधुत्व व धर्म निरपेक्षता पर आधारित जीवन दृष्टियां परवान चढ़ीं। इस सदी में दो विश्वयुद्ध भी हुए। यातना शिविर स्थापित हुए। नव उपनिवेशवाद ने शोषण व दमन के नये-नये तरीक़े ईजाद किये। संसार भर में सत्ता और आदमी के बीच भयावह अंतराल पैदा हुआ।

आधुनिकतावाद के बहुत सारे भ्रम टूटे। मनुष्य के सामने उसकी सांस्कृतिक अस्मिता का संकट पैदा हो गया। इसने जीवन के हर क्षेत्र को अपनी चपेट में ले लिया। भारत में राष्ट्रीय मुक्ति का विराट संघर्ष हुआ। आज़ादी तो मिली पर विभाजन की क़ीमत पर। छठें-सातवें दशक के आते-आते नेहरू के स्वप्नों से सबका मोह भंग हो गया। जनता निराशा के घोर अंधकार में डूब गयी। बाज़ार के विकसित हो जाने की वजह से विज्ञान व मानविकी के संबंध लगभग टूटते गये, क्योंकि तकनीक का विकास जनोन्मुख न होकर लाभोन्मुख हुआ। परिणामस्वरूप देश की आबादी का बड़ा भाग भूख, ग़रीबी, अशिक्षा का शिकार बनता गया। शहरों का विकास हुआ, पर गांव उपेक्षित के उपेक्षित रह गये। रोज़ी-रोटी की तलाश में पूरा का पूरा ग्रामीण युवा वर्ग शहरों की ओर पलायन करने लगा। राजनीति में भाई-भतीजावाद, जाति व धर्मों के आधार पर गुट बने। बड़ी पार्टियों में राजे-महाराजों के साथ गुंडे, माफ़ियाओं और अपराधियों का वर्चस्व बढ़ा। परिणामस्वरूप छोटे-छोटे और क्षेत्रीय स्तर पर अनगिनत दलों का वजूद उभर कर आया। हर ओर स्वप्न भंग की स्थिति पैदा हो गयी। आज़ादी के सपने बिखर गये और जनता का सत्ता से मोह भंग हो गया। विषम आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियों ने जनता के धैर्य का बांध तोड़ दिया। परिणामस्वरूप संसदीय प्रणाली के विरोध में छोटे-छोटे जन-आंदोलन उभरने लगे। उसी दौरान हुए नक्सलवाड़ी के सशस्त्र किसान विद्रोह ने पूरे देश को झकझोर कर रख दिया। इस विद्रोह ने संस्कृतिकर्मियों को सर्वाधिक प्रभावित किया। सर्वत्र वर्ग चेतना की लहर दौड़ पड़ी। किसान, मज़दूर, शोषित व दलित समाज में आशा की किरण फूटती दिखलायी पड़ी ।

साथी याक़ूब राही की कविताएं इन्हीं स्थितियों की उपज हैं। वर्ग चेतना से लैस एक कवि के साथ यही होना था। वह अपनी सोच में सर्वत्र विद्रोही बन जाता है। यही कारण है कि व्यवस्था के प्रति नकार व उसे उलट फेंकने की मंशा याक़ूब राही की सोच व लेखन दोनों में दिखलायी देने लगी। लेकिन याक़ूब राही जिस मार्ग पर चल पड़े थे उस पर चलने वाले गिने-चुने ही थे। लिहाजा लेखक समाज में धीरे-धीरे अकेले पड़ते जाना उनकी नियति सी बन गयी। अधिकतर लेखक सत्ता-व्यवस्था की चाटुकारिता के दम पर पुरस्कार व बड़े ओहदों को हथियाने की दौड़ में शामिल हो गये। प्रगतिशील शायरों को पुरस्कारों, पदों से उसी दौरान नवाज़ा गया। सत्ता के गलियारों में अकादमियां व इदारे पैदा किये गये।

इसी समय हिंदी की नयी कविता में प्रयोगवाद व उर्दू में जदीदियत का प्रचलन बढ़ा। एक कुलीनतावादी सोच, एक भव्यता, स्वप्नजीवी रूमानियत, घर, परिवार, नदी, चिड़िया, रिश्ते तो इन कवियों के यहां ख़ूब आये पर वो सोच नहीं थी जिसकी जूझते समाज को ज़रूरत थी। ये सारे कवि -शायर एक तरह से प्रगतिशील विचारधारा को कुंद करने की फ़िराक में थे। बतौर विजय कुमार, 'वे सबके सब भव्यता के प्रेमी, स्वप्नजीवी और अपनी ही रूमानी छवि के बंदी थे। विचार से उन्हें परहेज़ था। ये लोग भारतीय संस्कृति के भाववाद से लड़े बिना, आधुनिकता बोध, बुद्धिवाद और व्यक्ति स्वातंत्र्य को स्थापित करना चाहते थे।' घालमेल की यह कोशिश कविता में भी थी और राजनीति में भी। नक्सलवादी आंदोलन के बाद के दौर में पुराने कवियों में वही संभले जिनमें प्रगतिशील जनवादी रुझान बच गयी थी। ऐसी सूरत में याक़ूब राही को अलग से खड़ा किया जा सकता है। उर्दू अदब की पारंपरिक ज़मीन पर विद्रोह की निराली रवायत शुरू करना और उसी पर चलते रहना इतना आसान नहीं था, पर याक़ूब राही को दाद दी जानी चाहिए कि उन्होंने भीड़ से अलग अपनी शिनाख़्त बनायी। उर्दू में मुशायरों व रवायती फ़ॉर्म से बचे रहना बहुत ही मुश्किल था। आज शायर व कवि वही है, जो जनता की लोकप्रियता की कसौटी पर खरा उतरता हो। लेकिन याक़ूब राही अन्य कवियों, शायरों के बीच रहते हुए भी उनके साथ नहीं होने की पहचान कराते रहे हैं। चाहे फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ की जन्म शताब्दी का जलसा हो या यहां होने वाले मुशायरे, उनमें याक़ूब राही का न होना साधारण-सी बात है। यहां हम देवनागरी लिपि में प्रकाशित उनकी पुस्तक, *हर्फ़े इंकार* के बहाने उनके लेखन पर बात करना ज़रूरी समझ रहे हैं। याक़ूब

राही अपनी एक नज़्म में कहते हैं,

दोस्तो! / फिर चलो / इस धुंध से टकरा के चलो / ज़िंदगी /
कश्मकशोजंगो-सफ़र जब ठहरे / कश्मकश से न डरो /
ज़ुल्मते-शब से उलझ जाओ /
अंधेरों में भटकता हुआ सूरज ढूंढ़ो ('फिर अकेले ही चलो', पृष्ठ 94)

एक नये सूरज की तलाश उस दौर के लेखन का जैसे मूलतत्व हो गया था। हिंदी-उर्दू अदब के प्राय: सभी रचनाकारों ने नये सूरज की वकालत करते हुए उसे व्यवस्था विरोधी उपमान दे दिया था। मुक्तिबोध ने हिंदी में व्यवस्थाविरोध की मशाल जलायी थी। उनकी मशहूर नज़्म, 'अंधेरे में' उन तमाम हालात का ज़िक्र है जिनसे याक़ूब राही भी टकराते रहे हैं। याक़ूब राही की नज़्म की ये पंक्तियां भी देखें :

सुबह सूरज की किरन / कूचाकूचा / तेरी उम्मीद में भटकती है /
शाम होते ही अंधेरों में बिखर जाती है / टूटती आस की मानिंद /
तेरे दर्द की लौ / रात भर आंखों में रह-रह कर उभर आती है /
सुबह से पहले धुली आंखों में बुझ के रह जाती है। ('ख़ुदफ़रेबी', पृष्ठ 15)

इस दौर की शायरी या लेखन में तीली, माचिस, मशाल जैसी अनेक शब्दावलियां आम फ़हम थीं जो व्यवस्था के प्रतिरोध में उपयोग में लायी जा रही थीं। याक़ूब राही का कवि चीख कर कह उठता है :

क़तरा क़तरा भीख न मांगों/ तरसे तरसे होठों में /
प्यास की सारी रेत छुपा लो /
कुछ न कहो प्यास की शिद्दत ख़ुद ही बढ़कर /
छीन झपट कर / अपनी प्यास बुझायेगी। ('तरसे-तरसे होठों में,पृष्ठ 18)

याक़ूब राही की कविताओं को पढ़ते हुए एक ओर उम्मीद को पर लगते नज़रआते हैं, वहीं नाउम्मीदी को झटक फेंकने का हौसला भी देने वाले शब्द मिलेंगे। उनकी पंक्तियां देखें :

अपनी ताबीर के सहरा में /
जले ख़्वाबों की इस राख को तुम /
राख का ढेर ही क्यों कहते हो /
बढ़ के इस राख के सीने में / उतर कर ढूंढ़ो /
इसका इमकान है / तुम राख के इस ढेर में भी /
चंद चिंगारियां / रह रह के दमकती देखो /
और शायद तुम को /
फिर से जीने का बहाना मिल जाये। ('इमकान', पृष्ठ 19)

उस दौर में अन्य भारतीय भाषाओं के कई कवि तक़रीबन उसी सोच को जी रहे थे। उन कवियों का उल्लेख करना हो तो पाश, वरवर राव, आलोक धन्वा, वेणु गोपाल, चेरवन्डा राजू, ज्वालामुखी, नामदेव ढसाल समेत दर्जनभर कवि आपको मिल जायेंगे। इन सबने अपने पूरे जीवन को इसी सोच की आग में झोंक रखा था। याक़ूब राही उन्हीं में से एक हैं। उनकी ज़िंदगी आग है, नज़्म में शब्दों से भी आग की लौ झरती है, विचारों में व्यवस्था की चिंदिया उधेड़ने की ज़िद है। इशारों-इशारों में भी व्यवस्था को आग लगाने का इशारा करने में वे नहीं चूकते। उनकी छोटी-छोटी नज़्में मानो विचारों की आग के पिंड हों। वे अपनी सोच वालों को भी कहते हैं कि 'इस राह को फूलों की सेज समझ कर मत चलो वरना / जल कर ख़ाक हो जाओगे।' वे अपने लिए एक प्यारी, ख़ूबसूरत नज़्म,'हर्फ़ेइंकार'में कहते हैं :

जब कहीं / मदहे-कातिल में लफ़्ज़ों को रुसवा किया जा रहा हो /
उस घड़ी / जब किसी गोश-ए-सर्द से /
हर्फ़े इंकार उभरे तो समझो / वो मैं हूं। (पृष्ठ 29)

हर क्रांतिकारी सोच वाले के दिल में प्रेम गहरे तक पैठा रहता है। सच कहें तो बिना प्रेम के क्रांतिकारी सोच पनपती ही नहीं। यह प्रेम देश के लिए, प्रकृति के लिए और मानवता के लिए और अपनों के लिए समान रूप से रहता है। याक़ूब राही के प्रेम को दर्शाती कुछ ख़ूबसूरत पंक्तियां :

तुम सूखी सूखी-सी नदी, मैं आवारा बादल /
उड़ता-उड़ता रिमझिम बरसूं, बढ़ कर तुमसे लिपटूं /
तरसा-तरसा जिस्म तुम्हारा, बर्फ़ की सूरत पिघले /
ज़र्रा-ज़र्रा टूटे-बिखरे, अपनी प्यास बुझाये /
धरती की गीली रग-रग से, कोंपल कोंपल फूटे ('तुम नदी मैं बादल', पृष्ठ 11)

मां की याद में उनकी एक छोटी नज़्म मन को छू लेने वाली है :

उसे / मुद्दत हुई / दफ़ना के आया हूं /
मगर लगता है जैसे वो खुली खिड़की में बैठी – आज भी है /
मुंतज़िर मेरी।

इसी तरह याकूब राही की एक और ख़ूबसूरत नज़्म है, जो पढ़ते हुए मुझे बहुत अच्छी लगी। संभवत: इसे उन्होंने अपनी पत्नी के लिए लिखा होगा :

ए चिड़ियों की चहकार / फूलों की ख़ुशबू, ए दीवारो-दर /
ए बेटे बहू, घर की आराइशें, सारी ज़ेबाइशें /
अपनी-अपनी जगह पर हैं लेकिन / तुम्हारे न होने से लगता है /
जैसे अकेला हूँ मैं / चली आओ तुम - आ भी जाओ /
कि बेचैन आंखें तुम्हें ढूंढ़ती हैं। (पृष्ठ 52)

इसी तरह अपनी बेगम की याद में कही उनकी नज़्म रुला देती है। एक पंक्ति की एक नज़्म देखें :

मेरी आंखों में / उमड़े आंसुओं को /
पोंछकर तुम किस तरफ़ चल दीं /
कि गहरी नींद से उठकर तुम्हीं को ढूंढ़ता हूं मैं। (पृष्ठ 68)

पोते, पोतियों, बेटे, नवासों के लिए कई ख़ूबसूरत नज़्मों से सजी *हर्फ़े इंकार* कई और मामलों में भी अमूमन इस दौर की शायरी से अलग है। लंबी-लंबी दलीलों, लफ़्फ़ाज़ी से बचते हुए कम शब्दों में बड़ी बातें कहतीं और पूरे हालात को समेटतीं ये नज़्में सिर्फ़ काग़ज़ काले करने के लिए नहीं लिखी गयी हैं। ये सबकी सब बयान हैं, हलफ़नामे हैं दबे-कुचले अवाम की ओर से। कठघरे में खड़े आम आदमी की ज़बान हैं जो कलम से नहीं दिल से लिखी गयी हैं। याक़ूब राही की कविताओं का यह सफ़र तन्हा उन्हीं का नहीं है, उन जैसी सोच वाले लोगों के लिए ये कविताएं हमेशा प्रेरणा के केंद्र में रहेंगी।

राही साहब को पढ़ते हुए मुझे कई जगह नयी ज़मीन की ग़ज़लें दिखायी दीं। उन्होंने न केवल फ़ॉर्म के स्तर पर, बल्कि विचार के स्तर पर भी ग़ज़ल की नयी ज़मीन पैदा की है। वे नयी राहों के अन्वेषी हैं। उनके शेर देखें :

संगो-आहन को फिर झिंझोड़ चलो,
क़तरा-क़तरा लहू निचोड़ चलो
एक ही रुख़ पे चल रही है हवा
सिम्त-बेसिम्त इसको मोड़ चलो (पृष्ठ 94)

और

सुर्ख़ लावे की तरह तपके निखरना सीखो
सूखी धरती की दरारों से उभरना सीखो (पृष्ठ 95)

याक़ूब राही जीवन को निरंतर संघर्ष का, इंक़लाबी परिवर्तन का, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक असमानताओं को समाप्त कर इंसान को इंसान समझने का ही नाम मानते हैं और अदब को इस क्रांतिकारी संघर्ष के साथ निरंतर ज़िंदादिली के साथ चलने वाला कमिटमेंट व मिशन मानते हैं। वे संभवत: अपने संघर्षों में और जीवन को ज़िंदादिली के साथ जीने में सफल भी रहे हैं। सुखों-दुखों की धूप-छांव तो ज़िंदगी का हिस्सा है। बिना उसके न तो जीवन चलता है और न ही संघर्ष। आज के बदले माहौल में एक बार फिर से याक़ूब राही की डगर पर चलने की ज़रूरत आन पड़ी है। फ़ासिस्ट ताक़तें साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़ कर अपने नये मंसूबों के साथ सत्ता व्यवस्था पर काबिज़ हैं। हम नाउम्मीद तो नहीं हो सकते, प्रतीक्षा करेंगे कि कल फिर लोग उठ खड़े होंगे. भूख, ग़रीबी, नाइंसाफ़ी के ख़िलाफ़ उठ खड़े होंगे. साम्राज्यवादी मंसूबों के ख़िलाफ़, मज़हब और भाषा के नाम पर, जाति और नस्ल के नाम पर एकजुट हो रहीं ताक़तों के ख़िलाफ़ एक बवंडर-सा लोग उठ खड़े होंगे ज़रूर। आयें, उम्मीद करें ऐसा हो। याक़ूब राही की इस नज़्म के साथ मैं अपनी बात ख़त्म करता हूं :

मेरी आंख से / कोई देखे तो उस पार /
सबके लिए कितने सारे उफ़ुक़ हैं /
उफ़ुक़ ता उफ़ुक़ / फूल ही फूल /
ख़ुशबू ही ख़ुशबू / हवाओं के झोंके / पिंरदों की डोर
धनक चांद तारे / भरे खेत, खलिहान किलकारियां हैं /
मगर कौन देखे / किसे क्या
पड़ी है / मेरी तरह देखे / कि सब तो यहां /
अपने अपने उजालों में गुम हैं। ('उस पार', पृष्ठ 51)

2. *बांट लें, आ कायनात* : शमीम अब्बास : दूसरा तुझ-सा कोई मिल जाये मुमकिन ही नहीं

मेरे नज़दीक शमीम अब्बास साहब का व्यक्तित्व महज एक जदीद शायर का ही नहीं है बल्कि एक ऐसे ख़ूबसूरत इंसान का व्यक्तित्व है जिसमें, अवध की माटी की ख़ुशबू, वहां की ऐतिहासिक विरासतों का ग़ुरूर, लफ़्ज़ों में किसानी के दु:ख-दर्द और आशिक़ाना अंदाज़, दिल में दुनिया जहान का दर्द, भागती-दौड़ती मुंबई के जीवन की आवारगी और एक ऐसी बेफ़िक्री जो शायरी के लिए भी ज़रूरी है और कठिन स्थितियों के मुक़ाबले के लिए भी। ज़ुबान ऐसी कि सुनने पढ़ने वालों के जिगर फाड़ती हुई। उन्हीं के लफ़्ज़ों में कहूं तो 'कसूं मैं लफ़्ज़ों को इतना के जां निकल आये।' एक बंजारा शख़्स जो दिल की दुनिया की चाह लिये दर-दर भटकता फिरे। उर्दू जगत में अपने मिजाज़ व नयेपन के लिए बहुचर्चित शमीम भाई से मेरी मुलाक़ात बहुत देर से हुई। उर्दू की जदीद शायरी में निदा फ़ाज़ली व उनकी शायरी से वास्ता पड़ चुका था। उर्दू ज़ुबान की मिठास व कानों को भा जाने वाली अदा का दीवाना बने बिना नहीं रह सका। शायर मुस्तहसन अज़्म से मुलाक़ात क्या हुई कि मुझ पर ग़ज़लों की सनक सवार हो गयी। ग़ज़लें, पढ़ते-सुनते उर्दू भाषा की नज़ाकतों व लताफ़तों के मोह फांस में ऐसा फंसा कि एक दीवानगी सर चढ़कर बोलने लगीं। एकाध शेर लिये शहर भर हंगामा करता रहा। ग़ज़ल के हुस्न से लुत्फ़ उठाने के शौक ने निदा फ़ाज़ली, हसन कमाल, अजीज़ कैशी व मेरे स्व. मित्र विजयवीर त्यागी के अनेक मित्रों तक पहुंचा दिया और उन लोगों ने बेहद प्रभावित किया। जब शमीम अब्बास से मुलाक़ात हुई तो लगा कि शायरी किस तरह मिट्टी की सतह से उठकर सर चढ़ती है और बोलने लगती है। बोलचाल की आम फ़हम ज़ुबान। हर सुनने वालों के पल्ले पड़ने वाली और समझने वालों के लिए अहमियत रखने वाली। 'बांट ले आ कायनात तू मिरा बाक़ी तिरी' लोग सोचते, सुनते रहें। जिनको सर धुनना है धुनें, जिनको बारीक़ियां तलाशनी हों तलाशें। कह दिया सो कह दिया। ऐसा अनूठा व सादगी भरा रंग मुझे ख़ूब भाया।

शमीम भाई को सुनना एक अलग तरह के अनुभवों से गुज़रना था। विचार के जिस रास्ते चलते हुए हम जिस एक वर्गीय नज़रिये से सब कुछ जांचने-परखने के आदी हो चुके थे, उस दृष्टि से एक बारगी मुझे लगा कि इनकी पड़ताल किस तरह की जाये। यहां तो पूरा का पूरा मामला दिल का और आसपास के जीवन का है। कहीं से ल़फ़्फ़ाज़ी या दर्शन के जुमले दूर-दूर तक नहीं हैं। भारतीय दर्शन के फ़लसफ़ों को बखानते निदा जैसे शेर भी नहीं हैं। फिर शमीम को वैसे पढ़ा और समझा जाये। मैं निरंतर इसी उधेड़बुन में ही था कि तब तक उनका एक संग्रह लिप्यंतरित हो देव नागरी में छपकर आ गया, *बांट लें, आ कायनात।* एक बारगी पढ़ गया। थोड़ी भाषाई दिक़्क़तें भी आयीं। चीज़ें पल्ले भी पड़ीं। उनकी बेबाक़ ज़बान और एक अलग अंदाज़ मुझे तनिक परेशान भी करता रहा। गांव की सोंधी माटी की भीनी सुगंध व मुहावरों के देसज अंदाज़ से लगा कि शमीम खांटी अवधी बोलचाल के शायर हैं। पर एक दिन पूछने पर पता चला कि बचपन में ही गांव से आने के बाद उनका गांव से दूर-दूर का भी रिश्ता नहीं रहा था। शायरी के क्रम में उन्होंने देश भर की यात्राएं कीं और वतन भी उसी सिलसिले में जाना-आना हुआ। उन्होंने बताया कि वालिद और अम्मी से वाक़ई विरासत में देसज शब्दावलियां और जीवन जीने का अंदाज़ उन तक पहुंचा। एक बहुत ही लोकप्रिय शेर जिसे प्राय: हर अदबी जलसे में लोग शमीम भाई के मुंह से सुनना चाहते हैं देखें :

बड़ी सर्द रात थी कल मगर बड़ी आंच थी बड़ा ताव था
सभी तापते रहे रात भर तिरा जिक्र क्या था अलाव था

या फिर

कहीं जो सोच लें कोई जबा निकल आये
हम अपनी झोंक में देखो कहां निकल आये

...

मेरा जुर्म विरासत था सो यूं थका और शेर कहे
क्या कीजिएगा की पुरखों के आएद कर्दा जुर्माने थे

स्मृतियों, सुखों-दुखों और जीवन की आपाधापी के बीच शमीम का शायर अपनी कलम उन तमाम विषयों पर चलाता रहा जो ज़रूरी थे और जो उसके मन मिजाज़ को भाते रहे। प्रेम, प्यार तो कविता और शायरी का स्थायी भाव है। जीवन की उधेड़बुन में जब भी मन पीछे लौटता है मधुर स्मृतियां हिलोरे लेने लगती हैं शमीम भी कह उठते हैं, 'पहली-पहली मुलाक़ातें याद आती हैं/ बेढंगी, बचकानी बातें याद आती हैं / छल्ला, चूड़ी, कंगन, बूंदें,/ फूल रूमाल छोटी-छोटी सौगातें याद आती हैं।

कुछ देसज प्रयोग शमीम को उनके समकालीन शायरों से अलग करते हैं। उनके व्यक्तित्व में जो एक खांटी अवधीपन है, उससे आभास होता है कि सहज सामान्य जीवन जीने वालों के प्रति अनुराग करने वाला विचारवान शायर है, वह उनकी कलम की नोंक पर पूरे अनुभवों के साथ उतरता है और दुनिया-जहान की पीड़ाएं उतरवा लेता है। पीड़ा उनकी शायरी का मूल व स्थायी भाव है जो उनकी हर अभिव्यक्ति में उतरने को आकुल रहता है। शमीम भाई सबसे मिलने को उत्सुक, सबसे संवाद करते रहने में विश्वास रखने वाले शायर हैं। उनका एक शेर देखें :

खट्टा-मीठा, कड़वा-तीखा सबसे हूं मैं आशना
एक तेरी सोहबत की लज़्ज़त है कि जो चखखी नहीं
इम्तहां मेरा न ले इतना कि रिश्ता टूट जाये
तू बहुत कुछ है ये माना, कम मगर मैं भी नहीं

शमीम अब्बास प्रयोगों के अद्भुत शायर हैं। उनका एक प्रयोग अलगनी पर सुखाने के लिए डाले गये उड़ते हुए कपड़ों को देखें, 'बदन अल्गनी पर उड़े जा रहे हैं गुलाबी, शहाबी, बसंती ओ धानी'

उर्दू और हिंदी ग़ज़लों की दुनिया में एक से बढ़कर एक शायर नयी भाषा, नये तेवर लेकर, इससे अधिक दावे लेकर मैदान में उतरे दिखलायी पड़ते हैं। शमीम अब्बास कहीं कोई दावा नहीं करते, पर उनकी नज़र जिन विषयों पर जाती है वहां दूसरे किसी की नज़र नहीं जाती। जो छूट रहा है जो बिसर रहा है उसे याद करना और लफ़्ज़ों में पिरोकर धरोहर जैसा संजोकर रखना वे अपनी ज़िम्मेदारी मानते हैं। आज के समय में पीछे मुड़कर याद करती इस ग़ज़ल के कुछ शेर देखें :

ईद, दसहेरा, दीवाली और आशूरा ताज़िये, दंगल, मेले-ठेले, पलटे हैं
मट्ठा, महुआ, सत्तू, रसावल, भेली राब जबां पे लज़्ज़त है चटखारे पलटे हैं
घोर पे मुरगी और बतख़ तालाब में हैं गाय बछड़ा, नांद और बाड़े पलटे हैं
कल, परसों, जब बिछड़े कंगाल थे हम आज सरों पर चांदी लादे पलटे हैं

अदीबों, शायरों की सोच में पूरी कायनात होती है। उसका अपना जो कुछ भी है वह भी उसका कहां होता है। शायद यही कारण है कि वह अन्याय, शोषण, व नाइंसाफ़ी के ख़िलाफ़ अकेले खड़ा हो जाता है। जब ज़रूरत होती है, वह संपूर्ण मानवता का प्रहरी बनकर खड़ा नज़र आये। शमीम भाई के ये शेर देखें :

हर किसी दिल में सजी एक न इक मूरत थी मैंने वल्लाह हर इक सीने में मंदिर देखा
लंबी चौड़ी-सी है फ़ेहरिस्त मिरे ख़्वाबों की सब जहां के लिए इक अपनी ही ख़ातिर देखा

पूरी इंसानियत व शायरी अदीबों की कर्ज़दार है। उनकी मोहब्बतों का क़र्ज़ा कभी कोई चुकता नहीं कर सकता। शमीम का एक शेर देखें, 'हमारा मक़रूज़ वो कभी था, हमारा मक़रूज़ आज भी है दुकानदारी हमें जो आती तो काहे सौदा उधार करते'। अदीबों, शायरों के लबों पर मुस्कुराहट भला बहुत देर तक कैसे ठहरती। वे तो दु:ख और करुणा के ही गायक हैं. कविता पैदा ही हुई थी करुणा से :

मुझे ख़बर ना तुझे पता है
मैं तुझको तू मुझको जी रहा है

शमीम अब्बास का पूरा जीवन ही शायरी का पर्याय है! उन्हें जानने के लिए अपने पूरे दौर के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक दौर की पहचान करनी होगी। एक शायर के दिल पर कब-कब क्या-क्या गुज़रती है उसे वह ही जानता है। एक,एक शेर के लिए न जाने कितनी रातें वह गंवाता है। तब एक शेर ही नहीं एक जीवन काग़ज़ पर उतरता है। शमीम के पूरे जीवन और उनकी अदबी दुनिया को इस एक ग़ज़ल से जाना जा सकता है :

कहीं खपाये बिना तुम अपने को चैन से मर सकोगे क्या?
चलो जो ख़ुद को बचा भी लो, तो बचे हुए का करोगे क्या?
ये छत टपरिया, ये टीन -टप्पर, यूं ही धरा का धरा रहा
ज़रा-सी बदली पे बावलापन, तो भींगने से बचोगे क्या?
कभी तो दम भर को चुप रहो भी, लगाम अपनी ज़बां को दो भी
हमेशा अपनी ही जब कहोगे, तो फिर किसी की सुनोगे क्या?
जो तब थे, तब थे पर आज क्या हो जो आज हो कल रहोगे भी?
ज़मीन पैरों तले मुसलसल खिसक रही है टिकोगे क्या?
कमीना, कमज़र्फ़, बेहया, लानती, फ़रेबी मैं था मैं हूं
शरीफ़ज़ादो! बताओ सच सच, तुम अपना सच यूं कहोगे क्या?

शमीम अब्बास जी ऐसे ही शेर और भी कहते रहें, ऐसी कामना करता हूं। उन्हीं के शब्दों में उनको को सलाम करता हूं।

ये नहीं, ये भी नहीं और वो नहीं, वो भी नहीं
दूसरा तुझ-सा कोई मिल जाये, मुमकिन ही नहीं

मो : 9869118707

पुस्तक संदर्भ

1. *हर्फ़े इंकार*: याक़ूब राही, परिदृश्य प्रकाशन, मुंबई, 2019

2. *बांट लें, आ कायनात* : शमीम अब्बास, (*अच्छी सी कोई बात* शीर्षक से माई बुक प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित, 2019)

काव्य चर्चा

काव्य-आस्वाद : कुछ स्वगत-कुछ प्रकट

(तीन कविता संग्रहों से गुज़रते हुए)

अनूप सेठी

पत्र लिखने का अलग ही आनंद है। जब पत्र लिखने का कोई सबब हो तो आनंद और बढ़ जाता है। यहां दिये गये तीन पत्र मैंने तीन कवियों को उनका कविता संग्रह पढ़ने के बाद लिखे हैं। अलग अलग किताबें, अलग अलग वक़्त पर जब पढ़ीं और लगा कि अपनी बात कवि तक पहुंचानी चाहिए तो पत्र लिख दिया। इन तीन कवियों में एक समानता है कि ये लगभग एक ही इलाक़े यानी हिमाचल प्रदेश और जम्मू के हैं। संयोग से मैं भी उसी इलाक़े का हूं। कवियों को थोड़ा-बहुत जानता भी हूं। शायद इस वजह से कविता का आस्वाद लेने में मेरा एक समान धरातल बन जाता है। अपनी बात कहने में थोड़ी आत्मीयता की चाशनी भी घुल जाती है। यह मिला-जुला भाव-विचार का ताना-बाना कवि और उसकी कविता को किंचित अलग कोण से जानने में सहायक होता है। कविता को इस तरह पढ़ना-परखना शायद आपको भी रुचिकर लगे।

पहला पत्र

आदरणीय चंद्ररेखा जी,

अपना हिंदी और पहाड़ी काव्य संग्रह आपने मुझे भेजा। इसके लिए आभार व्यक्त करना औपचारिकता मात्र है। मेरे भीतर एक आह्लाद भाव और समृद्धि और ख़ुशनसीबी का भाव इस बात को लेकर हमेशा रहता है कि मेरे गुरुजनों की साक्षात कृपा अब तक मेरे ऊपर बनी हुई है। पिछले तीन दशकों से अपनी ज़मीन से दूर रह रहा हूं फिर भी गुरुजनों से संपर्क बना हुआ है और उनके स्नेह की प्रत्यक्ष-परोक्ष वृष्टि प्राय: होती रहती है। आपके प्रति भी मेरा वैसा ही आदर भाव है। मेरे मन में वह अमिट छवि है, जब मैं और धर्मपाल धर्मशाला कॉलेज से ढलियारा कॉलेज में काव्य प्रतियोगिता में भाग लेने गये थे। वहीं आपके प्रथम दर्शन हुए थे। बाद में धीरे-धीरे आपकी साहित्यिक गतिविधियों की जानकारी मिली। जब हम *हिमाचल मित्र* पत्रिका प्रकाशित करने लगे तो आपका रचनात्मक सहयोग भी हमें मिला। शायद तभी जाना कि आप तो हमारी पड़ोसी भी हैं। इस वर्ष आपके दोनों संग्रह मिले तो आपके काव्य जगत से सातत्य लिये हुए साक्षात्कार हुआ।

कला साहित्य के साथ हमारा संबंध बहुत निजी यानी 'वन-टू-वन' होता है। अंतरंग सा। कला का हम आस्वाद लेते हैं, पर उस आस्वाद को शब्द देना, प्रकट करना, ख़ासकर मेरे लिए कठिन होता है। और आप के संग्रह के संदर्भ में तो और भी कठिन है, क्योंकि आप गुरु-व्यास-पीठ पर भी विराजमान हैं। बहरहाल, जो कुछ टीप रहा हूं, उसे स्वगत कथन ही मानिए।

जब मैंने, *ज़रूरत भर सुविधा* संग्रह पढ़ने के लिए हाथ में लिया तो पूर्वधारणा की तरह मन में यह बात थी कि चंद्ररेखा जी गीतकार और ग़ज़लकार भी हैं। गीत विधा में लिरिसिज़्म की मात्रा ज़्यादा रहती है, भावुकता का वेग प्रायः भाववाद की तरफ़ झुक जाता है। इसके बरअक्स समकालीन कविता तमाम नये औजारों की वजह से प्राय: खड़ी-खड़ी सी होती है। तो इन कविताओं में अगर गीति की छाया होगी तो इनका रूप-स्वरूप कैसा होगा! कविताएं पढ़ने पर यह धारणा निर्मूल निकली, जिससे एक बार और यह सिद्ध हुआ कि रचना को स्वायत्त-स्वतंत्र कृति के रूप में ही देखना चाहिए। पूर्वधारणाओं का बोझा लेकर नहीं चलना चाहिए।

संग्रह पढ़ना शुरू किया तो कविताएं बड़ी सपाट लगीं। नहीं, सपाट सही सही शब्द नहीं है, निर्वेग सी लगीं। उनकी लय पकड़ में नहीं आ रही थी। उनमें चमत्कार नहीं था। बयान में या कहनी में चमक नहीं थी। चुपचाप कविता गुज़र जाती। लेकिन धीरे-धीरे कविता साकार होने लगी। उसकी सादगी प्रकट हुई। कविता की मंद्रता उसे एक ठहराव दे रही थी। कहे जा रहे के भीतर एक तिक्तता महसूस होने लगी। जिस जीवन का वर्णन कविता में किया गया है, उसकी विडंबनाएं, उसकी मजबूरियां-लाचारियां दिखने लगीं। लेकिन उसमें एक तपिश है, सीधे-सीधे विद्रोह नहीं है। परिस्थिति का सहज स्वीकार भी नहीं है। यह अस्वीकार या कहें प्रश्नाकुलता और स्पष्ट होने लगती है। पहले आभास होता है फिर स्पष्ट सा ही हो जाता है कि यह स्त्री स्वर है। बराबरी का व्यवहार नहीं मिलता है, यह बात चुभती रहती है। इसमें व्यवस्थागत विसंगतियों, असमानताओं, परंपराओं के निर्वहन के दबाव भी हैं। पर मुख्य स्वर एक स्त्री का है। बड़बोला, सपाट, मुखर नहीं, धीमा और दृढ़। मैडम, आपकी कविता की यह ताक़त है जो धीरे धीरे मेरे सामने प्रकट हुई।

प्रश्नाकुलता, असहजता और प्रच्छन्न विरोध के बीच एक अलग ही तरह का सुर मुझे आपकी कविता में दिखा। कई कविताओं में

हथियार, लहू, चोट आदि के बिंब आते हैं या उनका संदर्भ आता है। कुछ उदाहरण हैं – 'नायाब अस्त्र', 'लहूलुहान', 'ज़ख़्मों का मवाद' (पृष्ठ 17); 'मां की लाश', 'लाश की बू' (पृष्ठ 20); 'गिद्ध', 'मांस गंध' (पृष्ठ 22); 'बंदिनी हवा' (पृष्ठ 23); 'सड़ांध मुर्दा शरीरों की' (पृष्ठ 27); 'दहाड़ती आवाज़', 'मां की पीठ पर पड़ती सटाक की आवाज़' (पृष्ठ 31); 'तन मन तनी प्रत्यंचा समान' (पृष्ठ 36); 'मुझ पर उड़ेला होता लावे सा दहकता सूर्य' (पृष्ठ 38); एक कविता का शीर्षक ही है, 'लहूलुहान', 'एक साथ ही लहूलुहान होते हैं दोनों के पैर' (पृष्ठ 39); 'दैत्य के ब्रह्मरंध्र में', 'ख़ून लगे जानवर की तरह', 'भयानक विस्फोटों की धड़कन की आवाज़ों ने' (पृष्ठ 41); 'अस्त्र नये-नये / अस्त्र जुदा दराती/कुल्हाड़ी/आरी से' (पृष्ठ 42); 'औंधे मुंह पड़े आदमी को', 'उसके लहू में सने / स्वयं को चित्त पाया' (पृष्ठ 43); 'शाख़ से बंधा आदमी / आंच पर उल्टा टंगा था' (पृष्ठ 44); 'पिता की लाश' / 'आदमी की लाश को / कवच की तरह ओढ़े लोग सुरक्षित बैठे थे / माल-असबाब की गठरियों सहित' (पृष्ठ 45); 'पीठ पर ख़ून टपकते जीवन को' / 'जली हुई झोपड़ी की राख के साथ' / 'तुम्हारी कलगी तुम्हारे मस्तक पर ठुकी कील है' (पृष्ठ 51); 'शब्द-शब्द ... अस्त्र सा' (पृष्ठ 90) 'लहरों का तांडव' (पृष्ठ 97); 'लहू सनी हथेलियां' (पृष्ठ 99); 'ताबूत में / फ़र्श पर लहूलुहान / और कभी कभी चिमनी के धुएं संग / चिथड़ा-चिथड़ा बिखरती है औरत' (पृष्ठ 108); 'तलवार की धार तराशते' (पृष्ठ 109...।

ये तमाम शब्द किसी न किसी तरह की हिंसा से जुड़े हैं। कहीं-कहीं टकराहट या तल्ख़ी से जुड़े होंगे, पर ज़्यादातर ख़ून ख़राबे से ही जुड़े हैं। बाहर से कविता की भाषा बड़ी सहज और शांत है, निर्वेदपूर्ण है, लेकिन अधिकांश कविताओं में यह प्रत्यक्ष-परोक्ष हिंसा के प्रकटीकरण फैले हुए हैं। क्या इसे विडंबना कहा जा सकता है? विडंबना कहने से कुछ हाथ नहीं लगेगा। एक तरह से इस भाषा को छू कर भी उसकी परतों को खोलने से बचना हो जायेगा।

मैडम, आप तथाकथित शांत प्रदेश से हैं। सुरम्य और शांत पहाड़ी इलाक़े की रहने वाली, जहां जीवन अपेक्षाकृत सीधा और सरल है। लेकिन वह बाहरी खोल मात्र है। व्यवस्था की गुंझलकें वहां भी वैसी ही हैं जैसी तमाम हड़कंप मचाते मैदानी इलाक़ों में। आपकी कविताओं में बेमालूम ढंग से जीवन को खोला गया है, प्रश्न उठाये गये हैं; और ये प्रश्न ज़्यादातर स्त्री की तरफ़ से उठाये गये प्रश्न बनते जाते हैं। एक छटपटाहट या पीड़ा, आहत-भाव को समेटते समेटते अनजाने में अस्त्र-शस्त्रों, ख़ून ख़राबे, लहूलुहान होने-करने की बिंबावलियां कविताओं में अच्छी-ख़ासी जगह बना लेती हैं।

क्या ऐसा कहा जा सकता है कि चेतन स्तर पर चंद्ररेखा जी सहज-शांत, निर्लंकार-निर्ब्याज भाव से अपनी बात रखती हैं, लेकिन ग़ैरबराबरी, अव्यवस्था, मूल्यहीनता, दोहरेपन का शिकार होने की फंसी हुई स्थिति में अपने भावावेश, संवेग, क्रोध को प्रकट करने के लिए उनका अवचेतन अनायास हिंसाभासी भाषा का सहारा लेता जाता है। यह और ज़्यादा गहराई से विचार करने का विषय है कि कैसे लिरिकल स्वभाव का कवि अनजाने ही ऐसी अभिव्यक्ति करता है। यह हमारे समय और समाज का एक ख़ास तरह का आईना है। इसमें हमें अपना ही प्रतिबिंब दिखता है। रचनाकार ही रचना नहीं रच रहा होता है, उसका अंतर्जगत, उसका बाहरी परिवेश भी रचना में दख़ल दे रहा होता है।

क्षमा करेंगी, पता नहीं क्या-क्या लिख गया हूं। इसे लिखने में अन्यान्य कारणों से कई दिन लगे हैं, पर इसमें कुछ सार भी है या नहीं, पता नहीं। उम्मीद है आप मेरी बातों को ख़ुद से नहीं, अपनी कविता से जोड़ कर ही देखेंगी। अन्यथा नहीं लेंगीं। कुछ सार नज़र न आये तो इस पत्र को यह सनद मात्र मान लीजिए कि मैंने आपकी काव्य-पुस्तक ध्यान से पढ़ी है।

साभार

दूसरा पत्र

प्रिय नवनीत भाई,

यह पत्र मैं आपके कवि को संबोधित कर रहा हूं।

नवनीत शर्मा के पहले कविता संग्रह, *ढूंढ़ना मुझे* को पढ़ना मेरे लिए एक प्रीतिकर अनुभव रहा। ख़ासकर इसलिए भी कि जिस टॉपोग्राफ़ी में रहते हुए उन्होंने कविता लिखी है, उसकी महती भूमिका मेरे रचनात्मक रसायन के निर्माण में भी रही है।

नवनीत के काव्य फलक में - कवि, कविता, समाज, भावनाओं का उच्छवास - काफ़ी कुछ समाया हुआ है। कविता स्थानिकता के भीतर प्रवेश करती है। उसकी कई परतों को खोलती खंगालती भी है। यह स्थानिकता एक प्रतिबद्धता की तरह उपस्थित है। यह कविता की पहचान भी है और कवि की अपने जनपद से संलग्नता का प्रमाण भी। जैसा कि गणेश पांडेय ने भूमिका में ज़िक्र भी किया है कि यह स्थानिकता 'लोक' से भिन्न है। एक तरह की तार्किक दृष्टि इसे लोक से अलग करती है। इसी वजह से मुझे यह कविता मुख्य धारा की कविता से अलग लगती है। इसीलिए यह बहुत सी एक जैसी कविताओं से अलग है। इसीलिए उसमें सर्वव्याप्त सार्वभौमिकता नहीं है। इसीलिए इस तरह की कविता की ज़रूरत है। क्योंकि इस कविता से हमारे विशाल हिंदी क्षेत्र की विविधता अग्रभूमि में आती है।

नवनीत की कविता में कहीं राजनीतिक, आर्थिक, समाजशास्त्रीय इकहरापन नहीं है। भावुकता का अतिरेक भी नहीं है। प्रकृति कवि के अंगसंग है। ऐसा होना लाज़िमी भी है, क्योंकि कवि का कर्मक्षेत्र प्रकृति की सुरम्यता के बीच स्थित है, शायद इसलिए यथार्थ के वर्णन में प्रकृति परोक्ष रूप से मरहम का काम कर देती है, तिखनाहट या खुरदुरापन थोड़ा कम हो जाता है।

कवि का मन प्राणीजगत में उतना ही रमता है जितना प्रकृति में। यह अद्भुत है। अपने इसी प्रेम के कारण नवनीत कुछ मूक प्राणियों पर कविताएं हमें दे सके हैं। ये कविताएं पाठक को राग से भर देती हैं। इससे कवि की स्थानिकता सर्वांग भी होती है। 'गधा', 'ठुमको कुतिया', 'उसका परिवार', 'चोटिल गाय', 'कुतिया पुटू', 'तारो', 'बछड़ा टिकलू', 'दो प्रार्थनाएं', जैसी कविताएं एक अनूठे परिवार को साकार करती हैं। ये कविताएं महज़ पशु प्रेम के चलते या पर्यावरण कार्यकर्ता की दृष्टि से नहीं लिखी गयी हैं। ये हमारे जीवन का अभिन्न अंग हैं। या कहना चाहिए, इन्हें अपना बनाने की हूक कवि के अंतर्मन में है। इसी कारण ये कविताएं हमें करुणा से नम करती हैं। ये हिंदी कविता की उपलब्धि हैं।

नवनीत पत्रकार और ग़ज़लगो भी हैं। शायद इसलिए भाषा का एक अनुशासन उनमें है। पूर्व परंपरा का थोड़ा असर उनमें दिखता है, फिर भी अपना अलग लहज़ा बनाने की तरफ़ वे अग्रसर हो रहे प्रतीत होते हैं। भाषा की फ़िज़ूलख़र्ची वे नहीं करते। अपनी बोली के शब्दों को भरने की कोशिश भी वे नहीं करते हैं। जबकि स्थानिकता से जुड़े हुए कवि के लिए इस तरह के पाश में बंधना बड़ा सहज होता है। अपनी सजगता की वजह से ही कवि ने 'कृपया ठुंग न मारें' कविता में अपनी बोली के मुहावरे का विलक्षण प्रयोग करते हुए कविता को भाषाई विमर्श से आगे ले जा कर व्यापक बना दिया है। (हमारी बोली में ठुंग मारना का अर्थ है, चोंच मारना। प्राय: तोते अमरूदों को ठुंग मार-मार कर खाते हैं।) दृश्य चित्रण में बंधी यह कविता जीवन से सीधे उठायी गयी प्रतीत होती है। रेहड़ी पर मूंगफली बेचने वाले ने ग्राहकों द्वारा परखने के नाम पर मूंगफली खाने से या चुगने से होने वाले अपने नुक़सान को बचाने के लिए इस जुमले का बिजूके की तरह इस्तेमाल किया है। कवि इसमें भाषाई चमत्कार को पकड़ता है और कविता में सारे परिदृश्य की समाजशास्त्रीय शिनाख़्त कर डालता है।

संग्रह की अंतिम कविता 'वे जो बज रहे हैं' का संदर्भ देव परंपरा के देवताओं के बजंतरियों यानी साज़िंदों से है। यह एक कलाकार की पीड़ा, उसके संघर्ष और सत्ता से टकराहट को बख़ूबी स्वर देती है। बजंतरियों पर बहुत पहले सुंदर लोहिया ने और हाल में मुरारी शर्मा ने जागरूकता भरी कहानियां लिखी हैं। नवनीत शर्मा की यह कविता सुगठित, सुगुंफित, बहुपरतीय और सुपाठ्य कलाकृति है : 'आये देवता पर प्रेम / तो उसे छू नहीं सकते / जगे देवता से भय / तो उसे छोड़ नहीं सकते / आये देवता पर क्रोध / तो सदियों का ग़ुस्सा भर सकते हैं शहनाई में / सदियों का आवेग पटक सकते हैं ढोल पर / .... आसीन है पालकी पर देवता / लगभग दौड़ रहे हैं कहार / देखो मत, ग़ौर से सुनो / कितना दर्द बजा रहे हैं / ख़ुद बज रहे हैं बजंतरी।'

तीसरा पत्र

प्रिय कमल,

आपका कविता संग्रह पढ़ा। वक़्त की किल्लत के चलते या वक़्त को ठीक से मैनेज न कर पाने के कारण किताब क़िस्तों में पढ़ी। काव्य संग्रह को मेरे ख़याल से वैसे भी क़िस्तों में पढ़ना ही ठीक रहता है क्योंकि एक एक कविता अपने आप में मुकम्मिल होती है। कई कविताएं ज़्यादा देर गूंजती भी रहती हैं। अगर तुरंत दूसरी तीसरी कविता पढ़ ली जाये तो गूंज दब जाती है जैसे थाली की टंकार को हाथ से दबाकर बंद कर दिया जाये। दूसरी तरफ़ कई कविताएं शृंखला में होती हैं या शृंखला का आभास देती हैं उन्हें साथ साथ पढ़ना ही ठीक रहता है। वे समग्रता में खुलती हैं।

पढ़ते वक़्त कई बार मन इतना उछल पड़ता था कि मन करता था फ़ोन कर लूं। पर ख़ुद पर क़ाबू किये रहा। वक़्त बेवक़्त फ़ोन करना भी ठीक नहीं। यों कविता का आनंद भीतर ज़्यादा घुलता रहा। अभी चिट्ठी लिख कर आपसे अपनी बात साझा करने की सोची है तो भी पता नहीं कितनी बात कर पाऊंगा। काफ़ी कुछ उड़ भी गया होगा या उन बातों को शब्दों में बांधना हो भी पायेगा या नहीं। वैसे भी समीक्षा में मेरा हाथ तंग है।

आपकी कविता का डिक्शन या मुहावरा ग़ज़ब का है। सधा हुआ। सटीक। संक्षिप्त। तराशा हुआ। झोल न के बराबर। सरल भाषा। सूक्ति की तरह। आपका यह फ़ॉर्म ही कविता का प्रवेशद्वार भी है। इसी से आपकी कविता की बस्ती में पाठक घुसता है और रमता है। वैचारिक त्वरा भी सूक्तवाक्यनुमा कविता को तेज़ धार देती है। आपकी वैचारिकी में भी मुझे झोल नज़र नहीं आया। बल्कि सजगता है। छद्म पर प्रहार करने की मंशा है। मुक्ति की कामना है। आशा की डोर का भी साथ है। आज की कविता में प्रायः एक उदासी और नाउम्मीदी दिखती है। आपके यहां यह रोग नहीं है। जीवन संघर्ष का वर्णन है और उससे पार पाने की कामना है। आप का वर्णन वृतांतवादी नहीं है। बिंब हैं। वे ही सब कुछ खोलते हैं। और भाषा की लघुता मुहावरे बनाती चलती है। फिर से किताब पलट रहा हूं तो 'आम चुप क्यूं रहे' कविता पर अटका हूं। चिनार और आम कश्मीरी और पंडित के द्वंद्व को या कश्मीर और जम्मू के द्वंद्व को, पृष्ठभूमि को, वर्तमान को, ऊहापोह को आपने इस छोटी सी कविता में साकार कर दिया है। (समझने में ग़लती तो नहीं कर रहा हूं) संग्रह के पन्ने पलट रहा हूं और इन कविताओं पर अटक रहा हूं, 'तीन आदमी', 'क्या बात है', 'कविता के लिए', 'घड़ा', 'तुम आती हो', 'पंक्ति में खड़ा आख़री आदमी', 'औरत', 'पत्थर'...।

जब महानगरों से बाहर के कवियों की कविताओं का रसास्वाद लेता हूं तो यह जानने की चाह बनी रहती है कि कवि की कविता में स्थानीयता किस तरह आ रही है। वहां का समाज, भूगोल, कविता में किस तरह उपस्थित है। महानगरीय कविता में यह विविधता कम देखने को मिलती है। वहां स्टीरियोटाइप होते हैं। एक तरह की सार्वभौमिकता होती है। आप की कविता समकालीन कविता के समकक्ष खड़ी है और अपनी तरह से सार्वभौमिकता की रचना भी करती है। साथ ही उसमें आपके इलाक़े के खेत, गांव, शहर भी आते हैं। लद्दाख के दृश्य भी आकर्षित करते हैं।

यह चर्चा मैंने कविता के रूप पक्ष से शुरू की थी। मुझे लगता है इनका पाठ सशक्त और प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है। मुझे नहीं

पता आप पाठ करते हैं या नहीं। करते हैं तो कैसा करते हैं। यह इसलिए कह रहा हूं क्योंकि हिंदी के अधिकांश कवि प्रभावशाली ढंग से कविता नहीं सुनाते। बल्कि कविता रचना में ही वह पक्ष ग़ायब रहता है। कविता का संगीत और लय कविता को ग्राह्य बनाते हैं। एक तरफ़ हम कविता की लोकप्रियता की कमी का रोना रोते हैं दूसरी तरफ़ इस पहलू पर ध्यान नहीं देते हैं। ऐसे समय में जब बुद्धिजीवी और कवि समाज से कटा हुआ है, तुक्कड़ों, हंसोड़ों और चुटकुलेबाज़ों ने सारा मंच 'मला'(घेरा) हुआ है, सही कविता की परफ़ारमेंस की तरफ़ हमें ध्यान देना ही होगा। आप की कविता इस निकष पर खरी उतरती है, ऐसा मुझे लगता है।

शीर्षक यों तो आकर्षक है पर उसका अभिप्राय मुझे समझ में नहीं आया। हिंदी का ही नमक क्यों, धरती का नमक क्यों नहीं। हालांकि मेरे कयाफे लगाने का फ़ायदा नहीं है। आपके पास बेहतर व्याख्या होगी।

आप जम्मू में हिंदी की मुख्य धारा की कविता लिख रहे हैं, यह स्वागत योग्य है। हिमाचल में भी कई युवा कवि सक्रिय हैं, पर कुल माहौल 'सिन्नड़-पिन्नड़' होता है। कई पीढ़ियों के लोग कई युगों की कविता एक साथ रच रहे होते हैं। उनका चुंबकीय बल अपनी अपनी ओर खींचता है। जम्मू में भी कमोबेश वैसा ही माहौल हो सकता है। आप कठिन माहौल में कविता लिख रहे हैं, यह बड़ी बात है।

आप की कविता आगे और निखरती जाये, गहरी भी होती जाये, इन्हीं शुभकामनाओं के साथ।

मो. 9820696684

पुस्तक संदर्भ

***ज़रूरत भर सुविधा* : चंद्ररेखा ढडवाल, अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद, 2019**
***ढूंढ़ना मुझे* : नवनीत शर्मा, बोधि प्रकाशन, जयपुर, 2019**
***हिंदी का नमक* : कमल जीत चौधरी, दख़ल प्रकाशन, दिल्ली, 2019**

स्त्री विमर्श के संभावनापूर्ण पाठ

रेखा अवस्थी

शृंखला की कड़ियां और *द सेकंड सेक्स* के प्रकाशनोपरांत स्त्री लेखन पुराने सामंती प्रेतों की पितृसत्ता से संघर्ष करते करते जिस मुक़ाम पर आज है उसकी ताक़त दुनिया भर का वह महिला आंदोलन और स्त्री विमर्श है जिसने स्त्री नागरिकता का प्रश्न पूरे दमख़म के साथ उठाया, पितृसत्ता के दोहरे मूल्यों तथा दोहरी नैतिकता की नज़ीरों को तार्किक विवेचन के साथ पेश किया, क़ानूनों में परिवर्तन- संशोधन कराये और नये क़ानून बनवाये। लंबी बहसों के बाद स्त्री अध्ययन को पाठ्यक्रमों में स्वीकृति मिली। पर ज़मीनी स्तर पर संघर्ष लंबा है, इसीलिए सदियों की पराधीनता से स्त्रीमुक्ति का अभियान हर स्तर पर जारी रखने का प्रयत्न लोकतांत्रिक जनवादी शक्तियों की कार्यसूची का महत्वपूर्ण कार्यभार बन गया है। आमतौर पर नागरिक अधिकार की ग़ैरबराबरी का कारण लिंग भेद, रंग भेद, नस्ल भेद और जाति भेद माना जाता है जबकि इसके मूल स्रोत में तो है आर्थिक संसाधनों के स्वामित्व का प्रश्न। परंतु इस मूल स्रोत यानी वर्ग वैषम्य को उजागर करने से पहले ऊपर की सतह पर हो रही क्रूरता, ग़ुलामी, प्रताड़ना, निषेध आदि आदि की अंधेरी लंबी सुरंगों के झाड़ झंखाड को पहचानना और उनसे निपटना भी उतना ही ज़रूरी है। स्त्री मुक्ति, रंग भेद मुक्ति और जाति प्रथा से मुक्ति के आंदोलन और विमर्श में साहित्य ने महत्वपूर्ण भूमिका ही नहीं निभायी बल्कि उनका प्रेरक भी है। इसी दृष्टि से इस लेख में पिछले तीन चार वर्षों में प्रकाशित पांच स्त्री कवियों के कविता संग्रहों को टटोलने-पढ़ने की कोशिश है।

1. *पिरामिडों की तहों में*

सुमन केशरी का यह तीसरा काव्य संग्रह है। यह ध्यान देने की बात है कि स्त्री याज्ञवल्क्य से बहस करते करते, हृदय को आंखों से जानने के बाद इतिहास के पन्नों को पलटती व अपने देश से भी पुरानी सभ्यता मिस्र पहुंचती है जहां उसे‘ तहख़ानों में दबी ममियां/ हमें अपने बीच पा/ अट्टहास कर रही थीं / आख़िर वे भी तो/ ऐसे ही सपनों के मुग़ालते में/ दबी पड़ी थीं हजारों सालों से’('क़ैद आत्माएं,' पृ.1 3)।‘ इंद्रजाल‘ ,'आकांक्षाओं की अंधेरी क़ब्र में,' कविताओं में स्त्री पराधीनता का परिप्रेक्ष्य बहुत ही बेबाक और बेचैन करने वाला है। यह वह वैश्विक परिप्रेक्ष्य है स्त्री यातना और पराधीनता का जिसमें आज की स्त्रियां सहभागी हैं पर जनतांत्रिक चेतना से लैस स्त्री पितृसत्ता की स्त्री विरोधी मानसिकता के विरुद्ध बोलने और संघर्ष के लिए सन्नद्ध है :‘ मैंने अपनी दम भर अपनी सांस बटोरी/ चीखी/...कातर हो/ ध्वनि को पुकारा/...आंसुओं से शब्दों को सींचा/ सहलाया उन्हें/ पुकारा/ फिर पुकारा’। चूंकि स्त्री विमर्श और आंदोलन के दबाव से पितृसत्ता को स्त्री अस्मिता को, आधे अधूरे मन से ही सही, स्वीकार करना पड़ रहा है, इसीलिए संग्रह की अंतिम कविता में यह स्वीकारोक्ति है कि‘तहखाने का द्वार/ खुल रहा था धीरे धीरे...’(तहख़ाने का द्वार, पृ.111)। बंद दरवाज़ों के धीरे धीरे खुलने की यह आशा चल रहे संघर्षों को आगे बढ़ाने में मददगार हो सकती है। यद्यपि समझ की यह सतर्कता अर्जित की जा चुकी है कि पूंजीवाद पितृ प्रेतों को, नये नये रूपों, तरकीबों में अब बाज़ारवाद, सांप्रदायिकता, धार्मिक रूढ़ियों और साइबर निगरानी के ज़रिये, ज़िंदा रखने की चतुर साज़िशों में जुटा हुआ है। *पिरामिडों की तहों में* संग्रह की‘ एक रसूख़ वाले आदमी से,’ ‘मृगतृष्णा के जागरण में’ तथा‘ किरणों का एक सिरा’ जैसी कविताएं इस ख़तरे की निशानदेही करती हैं।

घर को लेकर स्त्री जीवन या समाज में बराबर ऊहापोह है। सुमन की नज़र इस ऊहापोह से जुदा नहीं है:‘ कभी किसी औरत का घर देखा है/? कहते तो यही हैं कि औरत घर बनाती है/ पर जब बात होती है घर की/ तो वह हमेशा मर्द का ही होता है') 'निष्कासित,' पृ. 51)। यही नहीं यही घर उसकी व्यक्तित्व विहीनता का पर्याय भी बन जाता है:‘ घर/ घर/ घर/ कई बार उच्चारा मैंने/ और धंसती चली गयी उस अंधे कुएं में...’('वीरान,' पृ. 28)। घर, परिवार, विवाह के सपने स्त्री के जन्म लेते ही गढ़े जाने लगते हैं। जबकि यह तीनों संस्थाएं स्त्री के विस्थापन का मूल कारण हैं। सुमन लिखती हैं:‘ विदा होती लड़कियां/ समूल उखाड़ रही थीं ख़ुद को/ आंचल में अपनी जड़ें समेटती .../.... लड़कियों के अपने देस की कोई कथा सुनी है तुमने’?('विदा होती बेटियां,' पृ.64)। एक और कविता‘ मेरा कोई घर नहीं’की इन दो पंक्तियों में स्त्री जीवन के इस त्रासद यथार्थ को पढ़ें:‘ पेड़ तो हूं/ पर जिसकी जड़ें धंसने नहीं दी जातीं इतनी गहरी/ कि कह सकूं कि यह ज़मीन है मेरी’ (पृ. 52)। इन संघातों और संघर्षों के बीच स्त्री की अनिवार्यता और उत्कृष्टता को सुमन केशरी ने‘ स्त्री’ तथा ‘ओ...ऋत’ कविता में प्रकृति के साथ एकाकार कर दिया है :'डर तूफ़ान है/ सब कुछ/ छिन्न भिन्न कर देता है...अच्छा!!!औरत ने कहा/ और/ लेट गयी/ क्षितिज-सी... बिछ गयी धरती पर वह हरियाली-सी/ स्वच्छ सुंदर...बादलों में

बूंदों-सी समा/ तिरने लगी आकाश के सागर में/ निर्द्वंद्व ...'(ओ...ऋत, पृ.59-60). प्रकृति और स्त्री का यह तादात्म्य भाव व्यंजक तो है ही, कलात्मक भी बहुत है।

2 .*बूंद बूंद शब्द*

मनजीत मानवी का यह दूसरा काव्य संग्रह है। संग्रह में कवि मानवी ने प्रतिगामी व्यवस्था, सामाजिक ढांचों, शास्त्रों और परंपराओं के प्रति प्रतिरोध को अपनी संवेदना एवं वैचारिकी का आधार बनाया है। इसी प्रतिरोध के रास्ते वे अपनी प्रतिबद्धता उन नये रास्तों, विचारों के प्रति व्यक्त करती हैं जिनसे स्त्री को पितृसत्ता की पराधीनता से मुक्ति, दलितों को जाति त्रासदी से मुक्ति, ग़रीबों, मज़दूरों, बेरोज़गारों को आर्थिक संत्रास, शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति के रास्ते मिल सकते हैं।

उनका मानना है, 'देखें कभी/ उलट पलट कर/ सर्वसहमति का/ उलझा जाल/... प्रतिष्ठा में अनिष्ठा देखें/ अनिष्ठा में छिपा सम्मान/ ज्ञान की मूर्खता देखें/ मूर्खता का ज्ञान'('उलट पलट,' पृ. 89)। अंग्रेज़ी साहित्य के अध्यापन के साथ साथ मनजीत लंबे समय से महिला आंदोलन की प्रतिबद्ध कार्यकर्ता हैं। वे पितृसत्ता द्वारा महिमामंडित भारतीय संस्कृति के झूठे दावों की पृष्ठभूमि में पूछती हैं:' किस जटाजाल में/उलझी हो तुम/ आधुनिक स्त्री/?...परिवार की परिसीमा/मर्यादा का मोह/प्रेम का जोख़िम/और स्त्री मुक्ति भी'?('जटाजाल,' पृ. 63)। मनजीत इस तथाकथित मान मर्यादा के आख्यान को' निकृष्टतम पाठ' कहती हैं:' उसे नहीं मालूम था/ असली आदमख़ोर/ वनों में नहीं/ अंधी परंपरा की/...मांद में पलता है/... लिंग पोंछता है/ वाहवाही लूटता है/ और बेधड़क/ पढ़ाता जाता है/ कुल की इज्ज़त का/ वह निकृष्टतम पाठ/जिसे सभ्यभाषा में/ मर्दानगी कहा जाता है!'(पृ.(62-61 । इन दिनों' लव जिहाद' के नाम से पारित कई राज्यों के अध्यादेशों की स्त्रीविरोधी मानसिकता के संदर्भ में इस कविता की व्यंजकता हरियाणा की खापों की संकीर्णताओं से परे और अधिक बढ़ जाती है। धर्माचार्यों, नेताओं, खाप पंचायतों के फ़रमानों और कुकर्मों के प्रभाव और धार्मिक ग्रंथों एवं विज्ञापनों द्वारा फैलायी मानसिक ग़ुलामी के कारण बड़े पैमाने पर स्त्रियों का अस्तित्व निरंतर संकटग्रस्त है जिसका मनजीत ने संग्रह की अनेक कविताओं में गहन भावानुभूति के साथ चित्रण किया है।

मनजीत की कविताएं और मनजीत स्वयं हरियाणा की खाप पंचायतों की स्त्री और दलित विरोधी मुहिमों के विरुद्ध एक सशक्त आवाज़ और सक्रिय भागीदार हैं।' यक्ष प्रश्न' कविता में पुत्र कामना के बरक्स लड़कियों का मर्मभेदी चीत्कार साफ़ साफ़ सुना जा सकता है:' खड़ा है रक्तबीज सा/ इक्कीसवीं सदी की/ दहलीज़ पर भी/स्त्री हृदय की प्यास लिये/ वही पुराना यक्ष प्रश्न/...जिस वंश को/ चलाने के लिए/...हो जाता है हवन/ एक औरत का तमाम जीवन/ उसी वंश की जड़ों से/ अनुपस्थित है/ क्यों आज भी/ औरत के दर्द की संतति/... पिता और पुत्र की/ खंदक में गर्त/ एकांगी वंश वृक्ष की/..यही है घुटन/ यही जड़ों का मर्म ...'(पृ. 4०-41)। यहां यह बताने की ज़रूरत है क्या कि हरियाणा में बेटियों का अनुपात देश में सबसे कम है? यहां विवाह के लिए स्त्रियां दूसरे प्रदेशों से लायी जाती हैं। फिर भी' बरस रही है हर दिन/ स्त्री देह पर/ परिपाटी की अंधी लाठी'('स्त्री देह,' पृ. 34)। इसलिए मनजीत स्त्री देह की निजता को अपना कथ्य बनाती हैं:' मेरा शरीर/ तुम्हारे खेल का मैदान नहीं/...मैंने छोड़ दी है/ हर ख़्वाहिश तुम्हारा वंश सजाने की/...चुन लिया है मैंने/हर लक्ष्मण रेखा लांघ कर/ रावण से निपटना/ मुक्ति के ख़्वाब बुनना'('मेरा शरीर,' पृ.-42 (44। स्त्री के इंकार करने के साहस से विभिन्न पितृवादी सत्ताओं के सिंहासन हिल उठते हैं. स्त्री को अपने इंकार की क्षमता का अहसास' मेरा इंकार' कविता में यह कहते हुए होता है:' मैं नहीं जानती थी/ इतनी बड़ी ताक़त है मेरे इंकार में!'('मेरा इंकार,' पृ.38)। मनजीत मानवी स्त्री मुक्ति के लंबे संघर्ष से वाकिफ़ हैं और अपनी सीधी सरल कविताओं से तैयार रहने का जज़्बा यह कह कर जगाती हैं: 'अभी तो खुली भर है/नियति की जंग से/ बंद पड़ी खिड़की/...अभी तो शेष है पलटना/ अतीत का हर धोखा !'(अभी तो, पृ.71).

3 .*एक शहर का ज़िंदा होना*

सीमा संगसार का यह पहला कविता संग्रह है। पेशे से शिक्षक सीमा की काव्यदृष्टि सामाजिक और वर्गीय अंतर्विरोधों की पहचान कराने से कहीं नहीं चूकती। उनकी पक्षधरता मेहनतकश अवाम के साथ है। स्त्री, किसान, मज़दूर, दलित, अल्पसंख्यक उनकी कविता के नागरिक हैं, जिन्हें हमारा कुलीन तबक़ा अपने देश का नागरिक नहीं ग़ुलाम समझता है। ये सभी आर्थिक शोषण के साथ पितृसत्ता की यातना, जातिवाद की प्रताड़ना और सांप्रदायिक हिंसा के शिकार हैं। संग्रह की पहली कविता' ,अछूत' में दलित स्त्री के यौन उत्पीड़न का सधा बयान स्वयं पीड़िता से कहलाना प्रतिरोध का पहला क़दम है:' तुम्हारे प्रार्थना घरों के देवता/भाग खड़े होते हैं/मेरी पदचाप सुन कर!/...तुम रांधते हो मेरी देह को/ मरी हुई मछलियों की तरह/जो स्वादहीन व गंधहीन होकर भी/तुम्हारे भोजन में/घुल जाती है नमक की तरह'(पृ. 21)।

प्रतिरोध की यह समझ मुक़ाबला करने का साहस जगाती है। ठाकुर की योजनाबद्ध तरीक़े से हवस का शिकार बनाये जाने की साज़िश को 'रमरतिया' ध्वस्त करती है। मात्र उत्पीड़न/रुदन की कविता न लिख कर सीमा यहां प्रतिकार की इबारत लिखती हैं:' रमरतिया तैयार न थी आज

चूड़ी छनकाने को/ कटनी का भूत सवार था/अंचरा में छिपाये/ हंसुआ से/रेत दी ठाकुर की गर्दन!/ लहलहा उठा उसका यौवन।।'(पृ. 39-40)। कवि सीमा ने' लहलहा' शब्द को स्त्री मुक्ति के नये संदर्भों - उत्पीड़न से आत्मरक्षा का साहस और निर्णय की क्षमता - के साथ प्रयुक्त किया है। किसान की फ़सल के लहलहाने के सादृश्य को श्रमिक स्त्री, भूमिहीन और दलित स्त्री, के साथ पढ़ते ही कविता के प्रभाव का तमाम संदर्भों के साथ अर्थ का विस्तार होता है। साथ ही लहलहाती फ़सल से किसान को होने वाली ख़ुशी का बिंब और रमरतिया की आत्मरक्षा/ प्रतिकार की ख़ुशी का बिंब मूर्तिमान हो जाता है।

कविता के लिए यथार्थ या विषय वस्तु, सादृश्य और बिंब– प्रतीकों का चयन रचनाकार की जीवन दृष्टि से संपृक्त होते हैं। इस प्रतिमान पर समकालीन कवियों में अपनी रचनाशीलता से सीमा अलग पहचानी जा सकती हैं। उनकी अनेक कविताओं में स्त्री के बच्चों समेत समाज और प्रकृति से खटने और जूझने के चित्रण की संवेदनशीलता का वैचारिक परिप्रेक्ष्य बहुत सुदृढ़ प्रतीत होता है। पतझड़ में विपन्न स्त्री और बच्चे का यह चित्र उत्पीड़क सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की पहचान कराता है:' जब नंगी होती है प्रकृति/देती है उष्मा/ उन सारे नंगे बच्चों को/ जो दिन भर/ उन झाड़ू लगाने वाली/ माओं के पास/ चिपके रहते हैं/ कंगारुओं की तरह.../वह कचरा बीनती औरतें/ जमा कर लेती हैं/उन पत्तों के ढेर को/ और/ इस कनकनाती सर्दी में/ जला डालती हैं अलाव.../ कितनी उष्णता दे जाता है/ एक पेड़ का ठूंठ हो जाना...'('पतझड़,' पृ. 58)।' मौसम का हालचाल'(पृ. 96) कविता भी इसी तरह खेतों और घरों में चौका बर्तन करने वाली स्त्रियों और उनके बच्चों के जूझते जीवन परिदृश्य को गहरे व्यंग्य के साथ उद्घाटित करती है।

स्त्री पराधीनता से मुक्ति के रास्ते में स्त्रियों की हज़ारों वर्षों की मानसिक ग़ुलामी के अनुकूलन को, संपति के स्वामित्व से बेदख़ल किये जाने को मुख्य कारण मानने के बाद, सबसे बड़ी बाधा माना गया है। इस अनुकूलन में धर्मग्रंथों, धार्मिक कर्मकांडों और रीति रिवाजों की बड़ी भूमिका है. इसी को ध्यान में रखते हुए सीमा संगसार ने' कठपुतली सी नाचती' स्त्री, जिसने सूरज के ताप में अपनी' सारी महक खो दी' है, को ग़ुलामी से मुक्ति के लिए घर , परिवार ,कुल-वंश की चौखट को ही स्त्री का संसार बना देनी वाली पितृसत्ता की हर लक्ष्मण रेखा को लांघ कर बाहर आने का न्योता इस प्रकार दिया है:' आना चांदनी रात में/ रातरानी बन कर/ दीदार करना चांद से/ जब तेरी रूह में/समां जाये चांदनी/ यक़ीन मानो/ छोड़ दोगी ग़ुलामी/ सूरज की.../'(सूरजमुखी का सच,' पृ. 31)। बंधनों से मुक्ति का यह प्रयास मात्र आमंत्रण तक सीमित नहीं रहता। गर्भ गृह को अशुद्ध मान कर अछूत मानने की धार्मिक पाखंड परंपरा को वे प्रश्नांकित करती हैं:' ऊंची मीनार पर/लाल लाल पताके/ लहराते हुए/ गुंबदों के नीचे/ गर्भ गृह स्थित/ ईश्वर को पूजा जाता है/लाल सिंदूरों से पोतकर.../ लाल रुधिर से/सना हुआ/ गर्भ गृह/ फिर अछूत क्यों'?(गर्भ गृह, पृ. 36)। बल्कि उनकी स्पष्ट मान्यता है कि' इस दुनिया का सबसे पवित्र कक्ष/प्रसव कक्ष है ।...'('प्रसव कक्ष में,' पृ. 73)।

बिहार के ज़िला बेगूसराय के गांव बरौनी में रहते हुए 'बर्बर युग में', 'पहचान पत्र', 'भीड़ तंत्र' कविताओं में सीमा संगसार की काव्य संवेदना के तार देश दुनिया की हर उस घटना परिघटना से जुड़े रहते हैं जो मनुष्यता के पक्ष में है और प्रतिक्रयावादी ताक़तों का विरोध करती है। अनेक ऐसी कविताओं के साथ उनकी' चेग्वेरा' ,'मक़बूल' ,'ब्रह्मराक्षस की ख़ोज,' 'सिमरिया घाट' और' कामरेड' जैसी बहुप्रशंसित कविताएं भी इस संग्रह में संकलित हैं।

4 .*सीता नहीं मैं*

आभा बोधिसत्व का यह पहला ही संग्रह है जबकि वे तीन दशकों से लिख रही हैं। संग्रह की भूमिका कवि आभा का प्राक्कथन नहीं लगता क्योंकि वहां कोई नाम नहीं दिया गया है। आभा की कविताएं ही उनका वक्तव्य हैं। हज़ारों वर्षों से उपलब्ध अनुपलब्ध स्त्री लेखन में स्त्री जीवन का यथार्थ यही है कि' ख़ुद की मर्यादा खोकर' उन्हें अब भी' कुल मर्यादा' की लक्ष्मण रेखा में बांधने के फ़रमान, अध्यादेश, क़ानून जारी हो रहे हैं, उन्हें बाध्य किया जा रहा है। उनकी स्थिति बिलकुल वही है जो आभा बयान कर रही हैं:' आगे निकलना तो दूर/ ज़िंदगी की भागमभाग में बराबरी तक के लिए/ घिसटते हुए दौड़ रही हैं पीछे पीछे/ संभालती हुई गर्भ को/ और उनको संभालने के लिए/ कोई रुक नहीं रहा/ फ़िलहाल'('स्त्रियां,' पृ. 98)।

'बाहर निकलो' और' ख़ुद से बातें' कविताओं में चित्रित पितृसत्ता के बोझ की असहनीय स्थितियां अस्मिता बोध को ही जन्म देती हैं कि' मेरा जुर्म तो स्वतः सिद्ध है/ मैं एक औरत हूं/ जननी सारे पापों की/ जननी।'('जज साहब,' पृ. 51)। अस्मिता बोध के साथ ही पिछले सौ डेढ़ सौ सालों के विमर्श और आंदोलन ने यह विश्वास पैदा कर दिया है कि' यशोदा की बेटी' कविता में बेटे के लिए मारे जाने के सच को जान कर भी बेटी की उद्घोषणा है, 'मैं फिर फिर आऊंगी'(पृ. 27)। संग्रह की 'तुम',' पत्थर ही सही', 'संघर्ष', 'चक्रव्यूह', 'तलाश', 'व्यवस्था' तथा कई और कविताएं स्त्री की अपनी पहचान की तलाश और मुक्ति की चाहत की बेकली और बेचैनी को व्यक्त करते हुए विमर्श और रागात्मकता के संतुलित समन्वय की नज़ीर पेश करती हैं .

स्त्री मुक्ति का लेखन, चिंतन या विमर्श अथवा संघर्ष या आंदोलन किसी एक देश, महाद्वीप, जाति,धर्म की सीमाओं तक सीमित नहीं है। पूरी दुनिया में स्त्रियां अपने प्रति समाज की सोच और व्यवहार, क़ानून और धर्म में बदलाव के लिए लिख रही हैं, लड़ रही हैं। जेलों में बंद हैं। पुलिस,

मिलिट्री और धर्मांधों की गोली खाकर जान दे रही हैं। दूसरी तरफ़ धर्म, संस्कृति, परंपरा तथा बाज़ारवाद के नाम पर स्त्री पराधीनता के नये नये फ़रमान व जुगतें ईजाद की जा रही हैं। इसलिए देशज या विदेशज की फांक करना मुनासिब नहीं है। हर देश की स्त्री अपने देश की पितृसत्ता के गढ़े इतिहास, मिथक, परंपरा से दो-चार करने को बाध्य है।' दुनिया के मज़दूरो एक हो' की तरह' दुनिया की स्त्रियां एक हो' का आह्वान होना चाहिए क्योंकि यहां भी खोने के लिए जंज़ीरें ही हैं। पुरुष का उपनिवेश बन कर स्त्री नहीं रहना चाहती। स्त्री-पुरुष का सह जीवन बराबरी, प्रेम और एक दूसरे का ध्यान रखने के लिए होना चाहिए ना कि स्वामित्व और साम्राज्य के लिए। इसी भावभूमि पर आभा ने कई कविताएं लिखीं हैं:' एक साथी ज़रूरी है/ बिलकुल ज़रूरी है/ सेवा-प्यार का मौसम मनाने के लिए'('एक साथी,' पृ. 23) साहचर्य की इस विचार भूमि पर कवि आभा इस साथीपन को' सात फेरों या कि क़ुबूल है' में चित्रित करने की बजाय' दिया बाती' के बिंब का सादृश्य रचती हैं:' हमें तो बनाये रखनी है/ अपनी रौशनी अपने दिया बाती के रिश्ते को/मंजूर करते हो मेरे साथ चलना/मेरे साथ जलना'/?('संबंध,' पृ.17-18)। यही हमसफ़र और साथी' मेरे लिए' कविता में' फटा बांस' नहीं 'सुर और साज' का मधुर संगम है, सिंफ़नी है।

रोमांस और प्रेम, जीवन के लिए हवा पानी हैं। स्त्री को भी चाहिए। आभा की स्त्री में प्रेम की आकांक्षा का उल्लसित वर्णन करने का साहस है:' मैं तुम्हें काजल बनाना चाहती हूं/ रोज़ रोज़ थोड़ा आंज कर/ थोड़ा कजरौटे में बचाये रखना चाहती हूं।/मेरे मन पर छाये हो तुम/ मुझ पर आविष्ट हो तुम/ मैं तुम्हें एक बार नहीं हर दिन रात/हर सांस हर पल अपनी पलकों में/ रखना चाहती हूं।'(पृ.15-16)। उसमें प्रेम को पाने और देने की इच्छा आकांक्षा के साथ उस प्रेम में अपनी निजता और अस्तित्व को बचाये रखने की दृढ़ता भी ख़ूब है। सीता की तरह उसे अपने अस्तित्व की समाप्ति स्वीकार्य नहीं है। अकेले भटकते हुए अपनी राह बना कर जीवित रहने का संकल्प करती यह स्त्री पितृसत्ता की बाधाओं, अवरोधों के प्रति 'शुक्रिया' लिखती और अदा करती है। कविता में व्यंग्य की पैनी धार है। यही जिजीविषा, कर्मठता और आत्म सजगता आज की स्त्री का गंतव्य है: 'विलग हो कर/ सज गयी मैं डट कर/ तुम्हारे बोये हुए/ पत्थरों का/ शुक्रिया शुक्रिया शुक्रिया'(पृ. 78)। स्त्री मर्यादा की रक्षा के लिए तत्पर यह स्त्री पितृसत्ता को सलाह देकर सचेत भी करती है: 'पहले स्त्री से बोलना सीखो...'(पहचानो,पृ. 55).

निस्संदेह आभा बोधिसत्व को स्त्री जीवन के विभिन्न पहलुओं और समाज के प्रति अपने गहरे सरोकारों को निजता और निर्वैयक्तिकता दोनों तरह की शैलियों में व्यक्त करने की परिपक्वता हासिल है।

5 .*ईश्वर नहीं नींद चाहिए*

अनुराधा सिंह का यह पहला कविता संग्रह है। 73कविताओं का यह संग्रह एक महा कविता है जिसकी थीम है स्त्री जीवन और उसका मनोजगत। पितृसत्ता के हज़ारों वर्ष पुराने काल खंडों से निकल कर स्त्रियां सुना रही हैं अपनी आपबीती। यह आपबीती अतीत का वर्तमान भी है। अतीत और वर्तमान की निरंतर आवाजाही पूरे काव्य संग्रह में मौजूद है। कविताएं पढ़ते पढ़ते परिवार और घर की चहारदिवारी के भीतर स्त्री के अपने वजूद को बचाने की छटपटाहट और बेचैनी से उत्पन्न भावात्मक उथल पुथल और उनकी विचार वीथियों का बायस्कोप भी प्रतीत होने लगता है यह संग्रह। इन 73 कविताओं के पुरज़ोर काव्यात्मक स्त्री विमर्श के उपक्रम के माध्यम से अनुराधा सिंह की वैचारिक एवं रचनात्मक तैयारी का अनुमान किया जा सकता है।

जातक कथाओं से लेकर सावित्रीबाई फुले, ताराबाई शिंदे, पंडिता रमाबाई और अनाम अज्ञात स्त्री लेखकों ने भारतीय स्त्री जीवन के संताप के आख्यान लिखे हैं । परंतु आज जब हम स्त्री पराधीनता के संदर्भ में स्त्री अस्मिता की बात करते हैं तो भारतीय स्त्री अकेली नहीं होती उसके साथ वैश्विक स्त्री और उसके संदर्भ उपस्थित रहते हैं। चूंकि दुनिया भर में स्त्री मुक्ति आंदोलन, लेखन और विमर्श बड़े पैमाने पर हो रहा है। *ईश्वर नहीं नींद चाहिए* काव्य संग्रह इसी वास्तविकता को हमारी अनुभूतियों का हिस्सा बना देता है। मानव सभ्यता के विकास क्रम में स्त्री अस्तित्व के विलोपन के भावनात्मक आघात की व्यथा को अनुराधा ने बड़ी सजगता और सघनता के साथ' क्या सोचती होगी पृथ्वी' 'खेद है' 'न दैन्यं' 'तफ़तीश' जैसी अनेक कविताओं में अभिव्यक्त किया है।

अनुराधा सिंह के स्त्री वृतांत का शिल्प बहुआयामी है। प्रथम वचन की वाचकता यानी अभिव्यक्ति की आज़ादी स्त्री जीवन के मौलिक अधिकारों की पहली मांग है। स्त्री की वाणी और भाषा को छीन लेने की साज़िश और स्त्री के क्रमशः अपने बोलने और लिखने के अधिकार का इस्तेमाल करने के संकल्प को वे एकसाथ बयान करती हैं:' हमारे लफ़्ज़ों की नब्ज़ पर/ दुनिया हकीम ने उंगलियां रखीं/और दबा दी कमज़ोर नस/ सन्नाटे से आतंकित/ढूंढ़ते रहे एक आवाज़ जिससे कह सकें दो शब्द/...लेकिन हमें बोलना पड़ेगा/ जैसे जैसे आत्मा जागेगी शीतनिद्रा से/मुखरित होंगे युग युग के तिरोभूत शूल/भर शब्दकोष बोलेंगे/ तुम्हारी घुन्नी अदालतों में'('तुम बोले और मैं चला,' पृ.(52-51 ।' नकाब' कविता में अपनी पराधीनता का इतिहास बताते बताते पहले पहल हुए अकथ दुःख की स्मृति का वर्णन बेजोड़ है:' पहली बार दुःख हुआ था तो/ साईकिल की चढ़ी चेन को/ ज़्यादा चढ़ाती रही थी/ आंसू गिरते रहे ऐन ग्रीस की जगह/ आसमान धीरे धीरे स्याह हुआ था बहुत/ ज़िंदगी की गाड़ी ठीक से चलाने में/ ग्रीस से ज़्यादा आंसू काम आये/और काम आयी यही धोखेबाज़ मुस्कराहट/'(पृ.(56-55 । यह स्त्री किसी एक देश, जाति, रंग, धर्म, नस्ल या

भाषा-संस्कृति की नहीं है। यह अखिल ब्रहमांड की पराधीन स्त्री का सर्वजनीन दुःख है। पराधीनता की इस बेकली को विचार मुखर एवं बहुआयामी भाव व्यंजकता देने के लिए आत्माभिव्यक्ति और निर्वैयक्तिकता के दोहरे शिल्प को अपनाया गया है।

'बची थीं इसीलिए' कविता में पितृसत्ता के वर्चस्व में जी रही स्त्री की सहनशीलता और मनुष्यता को बचाये रखने के साहस का वर्णन पठनीय है:' इस नृशंस समय में भी/ बचाये रहीं अपनी कोख़ हाथ और छाती/ क्योंकि रोपनी थी उन्हें रोज़ एक रोटी/ उगाना था रोज़ एक मनुष्य/ जोतनी थी असभ्यता की पराकाष्ठा तक लहलहाती/ सभ्यता की फ़सल'(पृ.16)। स्त्री की क्रमश: विकसित होती सोच, सवाल उठाने, कार्रवाई करने और निर्णय लेने की वैचारिक ऊर्जा की विविध रंगतों की कविताओं से पाठक स्त्री विमर्श की अलग अलग परतों से रूबरू हो सकता है। सृष्टि के शुरुआती प्रेम के दिनों की स्त्री को बराबर याद आती और वह पुरुष से जानना चाहती है कि' क्या तुम्हें भी बुरा लगता है/ हमारी साथ बनायी सृष्टि में यूं अकेले अकेले रहना'(पृ.(30-29 । परंतु संबंध का आधार बदलते ही संबंध का चरित्र भी बदल जाता है। इसीलिए पिछले कुछ दशकों से स्त्री की आर्थिक बराबरी का प्रश्न स्त्री आंदोलन और विमर्श का मुख्य मुद्दा है. यहां तक कि उसके घर के कामों के श्रम मूल्य को जी. डी. पी. में शामिल करने की मांग है. इसलिए सदियों की पराधीनता के बाद स्त्री के यह तय करने पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि' मैंने बिछोह साध लिया है'(पृ. 44) और' सभी होंगे सफ़र में साथ मेरे/यह तय है तुम न होगे'(पृ.19)। स्त्री चेतना का यह विमर्श अलगाव के लिए नहीं बल्कि उस समझ के लिए है जिससे स्त्री के मन और स्त्री देह पर क़ब्ज़ा करने के पितृसत्ता के प्रेतों से पुरुष मानसिकता मुक्त हो सके। संग्रह की कविता' स्वागत है नये साल' में स्त्री स्पष्ट शब्दों में कहती है' ,तुम्हें वह औरत बन कर तो कभी नहीं मिलूंगी/ जो चोट खाने पर रोती है/ मारने पर मर जाती है/ छले जाने पर व्यर्थ हो जाती है.../ अब तय करना है/ किस भाषा में मिलोगे मुझसे/ क्योंकि मैं तो व्याकरण से उलट/ परिभाषाएं तोड़ कर मिलूंगी'(पृ.(26-25 । संग्रह में 'क्या चाहते हो स्त्री से','विलोम','तब भी रहूंगी मैं', मैं चांद पर कविता नहीं गाऊंगी',' सपने हथियार नहीं देते ', 'यह अति प्रश्न', 'बचा लो',' घुसपैठ','तुम विहीन' कविताएं स्त्री अस्मिता की बहुआयामी प्रकृति को बहुविध व्यंजनाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं .

संग्रह पढ़ते हुए आश्वस्ति का अहसास होता है कि समकालीन हिंदी कविता में अनुराधा सिंह वैचारिक स्पष्टता एवं कलात्मक सजगता के साथ शामिल हुई हैं।

इन संग्रहों को पढ़ते हुए ईरान की कवि मार्जिया अहमदी उस्कुई, जिनकी राजशाही के विरुद्ध हुए आंदोलन के दौरान 1973 में सेना ने हत्या कर दी थी, की कुछ पंक्तियां मन में लगातार गूंजती रहीं कि:' एक औरत जो न जाने कब से.../अपनी ताक़त से ज़्यादा मेहनत करती आयी है .../ एक औरत जिसके लिए तुम्हारी बेहया शब्दावली में / एक शब्द भी ऐसा नहीं है जो उसके महत्व को बयान कर सके.../तुम्हारी शब्दावली उसी औरत की बात करती है/ जिसके हाथ साफ़ हैं/ जिसका शरीर नर्म है/ जिसकी त्वचा मुलायम है और बाल ख़ुशबूदार हैं'। हिंदी साहित्य की प्रगतिशील जनवादी धारा ने पितृसत्ता की इस कुत्सित मनोवृत्ति के विरुद्ध निरंतर लेखन किया है । प्रेमचंद ने स्त्री पराधीनता के प्रश्न को अपने कई उपन्यासों, कहानियों में विस्तार से लिखा और सौंदर्य की परिभाषा बदलने का आह्वान किया। महादेवी वर्मा और निराला के बाद से लेकर अनेक रचनाकार अब तक लिख रहे हैं। पर जैसा कि चिनुआ अचेबे ने एक कविता में हिरनों के इतिहास में शिकारियों की शौर्य गाथाएं गाये जाने का कारण बताया है:' जब तक हिरन/ अपना इतिहास/ ख़ुद नहीं लिखेंगे / तबतक'। इसलिए हिंदी साहित्य में महादेवी वर्मा के बाद 1960 से स्त्री लेखन का लंबा इतिहास है, पर स्त्री लेखन स्त्री विमर्श की आवाज़ बन कर, आपातकाल के बाद, स्त्री आंदोलनों के जुझारू संघर्षों के साथ साथ सामने आया। नाम गिनाने की ज़रूरत नहीं है। सभी उन नामों तथा संघर्षों से परिचित हैं। और अब सुमन केशरी, मनजीत मानवी, आभा बोधिसत्व, सीमा संगसार और अनुराधा सिंह के संग्रहों के बाद स्त्री विमर्श की परिधि का दायरा और नयी संभावनाओं की ओर अग्रसर होगा, ऐसी उम्मीद की प्रतीति है।

मो. 9818183255

पुस्तक संदर्भ :

1. ***पिरामिडों की तहों में*** **: सुमन केशरी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2018**

2. ***बूंद बूंद शब्द*** **: मनजीत मानवी : ऑथर्स प्रेस, नयी दिल्ली, 2017**

3. ***एक शहर का ज़िंदा होना*** **: सीमा संगसार, लोकोदय प्रकाशन, लखनऊ, 2019**

4. ***मैं सीता नहीं*** **: आभा बोधिसत्व, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2019**

5. ***ईश्वर नहीं नींद चाहिए*** **: अनुराधा सिंह , भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2019**

समय के साथ बदल रही है कविता

बोधिसत्व

इधर की हिंदी कविता वैसे तो रुकी सी दिखती है, लेकिन वह रुकी है नहीं। उसमें एक उथल पुथल, एक छटपटाहट है, एक ऐसी बेचैनी जो कुछ साल पहले की कविता में इसी विकलता से उपस्थित नहीं थी, क्योंकि जीवन, जगत, समाज के यथार्थ का अभिलेखीकरण लगातार क्रूर से क्रूरतर होता गया है। यथार्थ का अपना रूप निहायत हिंसक आलेखन में परिवर्तित हो गया है। यथार्थ का विवरण यहां तक पहुंच गया है कि कविता या साहित्य में आने के पहले वह अन्य अनेक माध्यमों में लगभग पंजीकृत कर लिया गया होता है। कविता और कवियों के सामने अपने काव्य यथार्थ की परीक्षा एक गंभीर संकट के रूप में उनसे मुख़ातिब है। कविता का सच समाज और समय के सच से एक भिड़ंत और मुक़ाबले के लिए अभिशप्त हो चुका है। कवि के सामने उनका युग और उस युग का सच निर्वस्त्र निरावरण खड़ा है। उसे देखने और दर्ज करने के कोण तक वह स्वयं लेकर आता है। कवि की मुश्किल यहां से आरंभ होती है कि वह अपने काव्य वस्तु का कविता बने रहना कैसे संभव करे।

यहां एक बात और ध्यान में रख़ना आवश्यक है कि इतनी बड़ी संख्या में कवि आज के पहले के युग में कभी सक्रिय न थे। यह बात दावे से कही जा सकती है। कई बार लगता है कि कविता हमारे युग में एक उत्पाद होकर रह गयी है और हमारा युग भी एक प्रोडक्ट भर है। बल्कि कहें तो वह सभ्यता की विराट यात्रा की छाड़न है। हम अपने युग की छाड़न में जी रहे हैं और उसे अपनी उन्नत उपलब्धि मान रहे हैं। यह भी हमारा एक विलक्षण यथार्थ है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा कि हमारी आज की हिंदी कविता देखने में स्थिर या रुकी हुई दिखती है लेकिन वह रुकी है नहीं। उसमें एक विकट परिवर्तन बारीक़ी में जाने पर लक्षित किया जा सकता है। उसे यदि हम अंदर और बाहर के व्यथा बोध से उबर कर देखें तो वह बारीक़ बदलाव बख़ूबी रेखांकित किया जा सकता है। यहां मैं यह भी कह देना उचित मानता हूं कि मैं कविता का पारखी आलोचक या काव्य मर्मज्ञ पंडित या आचार्य नहीं, बल्कि मात्र एक अपरिपक्व पाठक या भावक भर हूं। मेरी कविता की समझ और मेरा काव्यबोध बहुत उथला और अगंभीर है। लेकिन अपनी इस अबोध समझ के आधार पर मैं अपने आज के समय के चार कवियों की इधर की कविता पुस्तकों पर अपनी पाठकीय प्रतिक्रिया को पंजीकृत कर रहा हूं। यह मात्र एक रजिस्ट्री भर है कविता तेज प्रवाह में अपनी मंद और निजी प्रतिक्रिया कहें तो बेहतर होगा।

1. *ध्रुवतारा जल में*

विवेक निराला का यह दूसरा कविता संग्रह है जो 2017 में प्रकाश में आया। इसके पहले उनका एक कविता संग्रह, *एक बिंब है यह* चर्चित हो चुका है। इस नये संग्रह, *ध्रुवतारा जल में* की कविताएं अपने समय का सजग आख्यान और कविता का एक नया प्रस्थान हैं। लगभग रूढ़ि बन गये विषय पर उतने ही रूढ़ ढंग के विवरण से बनी शायद ही कोई कविता देखने को मिले। इस संग्रह में विवेक के पथ में वैदिक और पौराणिक युग की त्रासद विसंगतियों के साथ ही आज के समय में बेटी के लिए विद्रोही होने की सदिच्छा का सौम्य संदेश शामिल है। 'तितली' कविता भले ही अपनी बेटी से संबोधित हो, लेकिन कविता संसार की समस्त बेटियों के लिए आत्म स्वातंत्र्य के व्यापक संदेश के आलेख में बदल जाती है :

तेरा स्वर हो आरोही
तू होना ही विद्रोही।

यदि हम इस संकलन को ग़ौर से पढ़ें तो यह विद्रोही होने का संदेश कवि के अपने काव्य विषयों के चयन और उनकी निर्मिति में कवि जैसे स्वयं भी तितली की जगह उपस्थित है और विद्रोह करने के लिए उसका मन अभिमंत्रित है। देखा दुख लिखने में दिखे तो कवि की अपनी यंत्रणा को निस्तार मिल जाता है। 'तबले की थाप' में कवि का मन एक पशु के विकल विलाप को सुन पाता है और लिख भी पाता है। यह लिखना भी यथार्थ का एक भारी भरकम प्रस्थान नहीं बल्कि सत्य की बारीक़ वंचना को सामने रख देने जैसा है :

किसी की खाल है जो
खींचकर मढ़ दी गयी है
मढ़ी हुई है मृतक
की जीवंत भाषा

कवि यहां कविता की परंपरा से जुड़ता है तो लोक कविता से। किंतु वह सजग और सुदृष्टि से संपन्न होने के कारण लोक की शाब्दिक ओट लेकर यह जुड़ाव संपन्न नहीं करता, बल्कि लोक की करुणा से जैसे पाणिग्रहण करता है। त्रासद सत्य के साथ कवि का यह अग्नि प्रदक्षिणा जैसा बंधन है, किंतु कविता मात्र अग्नि के फेरे नहीं लगाती बल्कि सीधे उस दहकते हाहाकार तक ले जाती है जहां पहुंचाना कवि का मंतव्य

है। आप सभ्यता के उल्लास में एक समुदाय की खाल उतरते देख पाते हैं जहां बचाव का कोई उपाय शेष नहीं रह गया है। वहीं एक दूसरा वर्ग उस खाल उतारने में अपने सांस्कृतिक समुत्थान और सामुदायिक संस्थापना का गौरव देखता है। यह तबला सभ्यता के त्रासद और विभेदकारी विद्रूप का एक बड़ा रूपक बन कर अनहद नाद बन जाता है। जो न बजे तो भी एक वर्ग की खाल उतरती जा रही है और एक वर्ग खाल उतारता जा रहा है।

विवेक के इस कविता संग्रह में अनेक ऐसी गंभीर अर्थबोध की कविताएं हैं जिन पर विस्तार से बात होनी चाहिए। बिना विमर्श के इन कविताओं में अभिमंत्रित काव्य के सम्मोहन की झलक तो मिलेगी किंतु उसके काव्य मर्म से बिंध जाने का सुयोग न बनेगा। 'निषाद कन्या', 'निष्ठा', 'जूठा-झूठा', 'भाषा', 'मुक्तिपर्व', 'स्थगित', 'जूते', 'बूढ़े', 'कहानियां' आदि कविताएं विवेक के काव्य वैभव का प्रतीक हैं। जो लोग यह कहते हैं कि चावल के एक दाने से पूरे चावल के पक जाने का अंदाज़ा लगा सकते हैं, वे यही बात कविता पर लागू नहीं कर सकते। कारण कि हर कविता अपने हर शब्द और अक्षरों और वाक्य के साथ स्वयं ही संसार की सभी कविताओं से अलग हो जाती है।

इस संग्रह में तीन चार लंबी कविताएं हैं। हिंदी समाज को उन पर चर्चा करनी चाहिए। जिसमें संग्रह की अंतिम कविता, 'चार पुरुष और स्वर्ण युगों पर शोकगीत' एक बड़ी संभावना भरी कविता है। यह न केवल पंक्तियों में लंबी कविता है बल्कि अपने कथानक में भी अनेक स्तरों पर युग के हाहाकार को समेटे है। कविता समाज के तथाकथित स्वर्णिम युगों को स्वाहा करके उसकी चकाचौंध से मुक्ति पाने का खुला आवाह्न करती है। यह कहती हुई सी कि जैसे स्वर्ण युगों को स्वाहा करने में ही मुक्ति है, उसे ढोने में नहीं। कविता का यह नया कबीरपन है जो अनेक स्तरों पर हिंदी के काव्य वैभव को संपन्न करता है :

हमने अपने स्वर्ण युगों की चिता जलायी
अपने अपने मोह को
राख होते देखा

2. *जीवन के दिन*

प्रभात हिंदी के विरले कवि हैं। कुछ साल पहले हमने उनको कविता समय सम्मान से सम्मानित किया था। 2019 में उनका दूसरा कविता संग्रह, *जीवन के दिन* प्रकाशित हुआ है। कविता में धीरे चलने का धैर्य प्रभात की काव्य शक्ति है। इसके पहले उनका एक संग्रह, *अपनों में नहीं रह पाने का गीत* प्रकाशित और प्रशंसित हो चुका है। मैं प्रभात के निजी जीवन भूगोल को नहीं जानता लेकिन उनके इस नये कविता संग्रह में आये लोक को, उसके भीतर के जंगल और तालाब के झिलमिलाते जल को, उसमें कवि की प्रकंपित परछाईं को, उसकी काव्य छवि को और उसके स्वप्न को देख सकता हूं। जो भी इन कविताओं को पढ़ेगा, वह इन सब के सामने आयेगा ही, या प्रभात अपने काव्य से उस लोक को सामने लाकर खड़ा कर देंगे। लेकिन यह आवागमन किसी भी तरह बहुत तेज़ नहीं बल्कि एक स्वाभाविक तरीक़े से ही होगा, क्योंकि कवि को धीरे-धीरे जीवन में उतरना प्रिय है। वे अपने कर्म की धूल में पांव धरते हुए धीरे-धीरे उतरते हैं जीवन में। आज जबकि संसार में तेज़ और तीव्र उड़ानों का शोर है, उसके विपरीत कवि धीरे चलने की पैरवी कर रहा है तो कोई तो बात होगी :

संगीत की धुन में गड़रिये
जैसे उतरते हैं झुकी हुई सांझ की
पगडंडी की धूल में पांव धरते हुए
हौले-हौले धीरे-धीरे
मैं अपने कर्म की धूल में पांव धरते हुए
उतरना चाहता हूं जीवन में
हौले-हौले धीरे-धीरे

अगर इस कविता अंश को देखें तो हम समझ सकते हैं या समझने की कोशिश कर सकते हैं कि प्रभात अपने जीवन में 'धीरे' का गुणगान और आवाह्न क्यों कर रहे हैं। अपनी कविताओं में प्रभात अपने लिए एक तरल कैनवस रचते हैं। फिर उस पर धैर्य के साथ रंग भरते हैं। उनकी हर कविता में एक दृश्य है। कभी प्रकट तो कभी धुंध में गुम होता। गहरे हल्के मनमोहक रंगों से रचे दृश्य उनको हिंदी का एक अलग कवि बनाते हैं। वे किसी आपाधापी में नहीं हैं। उनकी कविता पर सबसे गहरा रंग उजास उदासी का है। एक ऐसी उदासी जिसकी भीतरी परतों में एक आस की लपट झिलमिलाती जागती है। जैसे बीहड़ में गड़रियों ने आग सुलगा रखी हो। उनकी कविता के गड़रियों के बारे में तारे और आकाश बात करते हैं तो एक आकाशीय दृष्टि का एक भव्य किंतु उदास करता चित्र उभर कर सामने आता है :

नक्षत्र उनकी भेड़ों को आकाशगंगा कहते हैं
आकाश कहता है-
गड़रिये चंद्रमा हैं पृथ्वी पर
चलते हुए

अगर ऊपर से देखते हैं तो आकाशगंगा और चंद्रमा सब कितना मोहक दिखता है, एक विराट सुकोमल पारदर्शी सौंदर्य को

मूर्तिमान होते देखते हैं, किंतु इस सौंदर्य के आलोक में गड़रियों और भेड़ों का भटकना मर्माहत करता रहता है। विराटता के आलोक में प्रभात सत्य का सूत्र छोड़ नहीं देते। प्रभात की कविता में रंग और प्रकाश एक प्रलयकारी भूमिका निभाते हैं। जो पहले रंगा होता है] प्रभात उसी पर दूसरा रंग या प्रकाश डाल कर सारे पिछले कैनवस को नया रूपरंग दे जाते हैं। लगभग हर बार ही वे आपके देखे को मिटा कर अपने रंगों की छाया से उसी दृश्य को नया कर देते हैं। गड़रिये भेड़ों के पैरों से कांटे निकालते जीवन की जोत बन जाते हैं, लोक गायिकाएं अमरता का राग गातीं, अमर राग गुंजाती हैं। सूखे हुए पोखर बिना जल के भी जल से भरे दिखते हैं। उनका सूखा होना भी उनके जीवन को नया अर्थ देता है। इस तरह कवि असंभव को संभव करता है और एक सामाजिक की बड़ी उदास भूमिका में बोलता है :

पोखर होने के लिए
पानी से भरा होना ज़रूरी नहीं
जब उसमें पानी नहीं होता
तब क्या वो पोखर नहीं होता

देखने में यह सादा सा कथन बहुत घुमाव-घेरदार है। अनेक प्रश्नों से लिपटा, अनेक पहलुओं वाला सत्य, जिसके आंतरिक वलय में कितने ही अर्थ गुंथे हैं। सूखा हुआ तालाब भी अंत तक तालाब ही रहेगा, वैसे ही जैसे मरती हुई मनुष्यता भी अंत तक मनुष्यता रहेगी। उसे और कोई रूप रंग नाम पहचान देने का यत्न विफलता के लिए अभिशप्त है।

'दुख', 'घास का उजास', 'कुछ ही लोग', 'आतप में पेड़', 'प्रेम और पाप', 'हे राम', 'भद्दे पैर', 'सूत्रधार', 'शरणार्थी', 'प्राथमिक शिक्षक', 'लोक गायिकाएं, लोक गायक' ऐसी कविताएं हैं जो प्रभात के माध्यम से हिंदी काव्य संसार को उजास रंगों से भरती हैं। 'प्राथमिक शिक्षक' कविता तो एक रूपक की तरह और इधर की सबसे लंबी कविता हो तो कोई संदेह नहीं। अपनी मंद मंथर कविता यात्रा में प्रभात एक आस की एक बहुवर्णी लौ जलाये रखते हैं कि 'कुछ ही लोग होते हैं जो/ आते हैं वक़्त ज़रूरत पर।' लेकिन वे आते ज़रूर हैं। उनका आना निश्चित है। इसीलिए आतप में भी बीहड़ में खड़े रहते हैं सूखते हुए पेड़। सूखते मरते लोग कहीं और नहीं चले जाते। उनको आस है कि सब सही होगा। प्रभात ने पिछले संग्रह से एक धीमी लेकिन लंबी यात्रा की है। उनके इस संग्रह, *जीवन के दिन* का स्वागत होना ही चाहिए।

यदि हम ग़ौर करें तो पाते हैं कि कविता अपनी बुनियाद से सूखे तरु की तरह बंधी खड़ी नहीं है, बल्कि उसने अपना स्थान और अपना रूप भाव रंग प्रभाव सब बदला है। समय के साथ वह बदल रही है। कविता ऐसे ही बदलती है धीरे-धीरे जैसे गड़रिये चलते हैं बीहड़ में, जैसे आतप में पेड़ सूखते-सूखते हरे हो जाते हैं या जैसे सुवर्ण युग को स्वाहा करके पीढ़ियां आगे जाती हैं, जैसे स्त्री के मन पर पड़े वैदिक घाव लुप्त होते हैं समय के साथ।

3. *इस तरह ढह जाता है एक देश*

नित्यानंद गायेन हिंदी कविता के युवा कवि हैं। यहां इनके तीसरे संग्रह, *इस तरह ढह जाता है एक देश* की चर्चा कर रहा हूं, जो कि वर्ष 2018 में प्रकाशित हुआ है। इसके पहले इनके दो और संग्रह प्रकाशित हैं, एक, *अपने हिस्से का प्रेम* और दूसरा, *तुम्हारा कवि*। नित्यानंद का मूल स्वर एक जाग्रत और दृष्टिसंपन्न कवि का है। एक तीखी और सधी, भाव और विचार की अभिव्यक्ति, नित्यानंद की कविता का प्रभावी गुण है। यह मानना पड़ेगा कि कि समकालीन हिंदी कविता में व्यवस्था की बर्बरता के प्रतिरोध में एक चुनौतीपूर्ण स्वर है गायेन का। यह संकलन उनकी इधर की यानी 2014 के बाद की राजनीतिक कविताओं का एक संकलन है जिसमें कवि आकांक्षाओं का एक व्यापक आकाश है जहां कविताओं में गायेन अपनी बुनियादी संकल्पनाओं के साथ प्रतिरोध को मुखरता से प्रकट करते हैं। आज की राजकीय सत्ता के लिए नित्यानंद एक प्रभावी रूपक देते हैं। वह रूपक है 'सत्ता का सांड़' जिसमें सत्ता का वह सांड़ प्रजा को रौंद रहा है। वह राजधानी में गोबर बिखेरता हुआ एक नयी तरह की गोबर संस्कृति का विस्तार कर रहा है :

सांड़ जो सिर्फ़ खाता है
...
सींग मारता है
और राजधानी की सड़कों पर
गोबर बिखेरता है (राजा का सांड़)

इस कविता को मैं इस संकलन की प्रतिनिधि कविता के रूप में देखता हूं। आपको इसमें राजा का सांड़ संस्कृति के ऐतिहासिक विस्तार के रूप में दिखेगा। वह सिंधुघाटी की महान सभ्यता की यात्रा से चलता हुआ आज राजधानी के महापथ पर अनियंत्रित या कहें कि आत्म संचालित अवस्था में हाहाकार करता हुआ आम जन को रगेद रहा है। नित्यानंद सत्ता के सांड़ का संस्कृति के नाम पर गोबर करने को अपनी कविता में पूरी तल्लीनता से दर्ज करते हैं और यह बताते हैं कि व्यवस्था अब ऐसे सांड़ों की जननी है। वहां से जो सुसंस्कृति के नाम उत्पन्न हो रहा है या पोषण पा रहा है वह ऐसा ही है सींग मारता हुआ और लोगों को त्रास देता हुआ एक छुट्टा सांड़। यह सांड़ और उसके कृत्य ही आज व्यवस्था की अंतिम मनोहर सांस्कृतिक देन हैं।

संकलन में अनेक कविताएं समय की त्रासदी को अपने तरीक़े से अंकित करती हैं और अपने इस प्रयत्न में नित्यानंद नागार्जुन की परंपरा से

सीधे जुड़ते हैं। इस जुड़ाव को मैं गहरे अर्थों में जनकविता की परंपरा के प्रसार के रूप में देखता हूं। यहां यह भी कहना आवश्यक है कि ये सत्ता विरोध की फ़ैशन वाली कविताएं न होकर सत्ता से बुनियादी मतांतर की कविताएं हैं। जहां कवि धरती के बाद केवल आसमान की लुभावनी दृश्यावली में अपनी धूनी रमाए बैठे हैं वहां नित्यानंद यह देख पाते हैं कि

स्वर्ग के हर मार्ग में
बह रहा है रक्त
बहुत शोर है,
चीत्कार है,
ख़ामोश हैं चिनार के पेड़
बर्फ़ ने पिघलने से मना कर दिया (यात्रा-शृंखला-नौवीं कविता)

यह कविता भारत की एक विकट त्रासदी का बारीक़ अंकन है, जो कि बड़बोलेपन की जगह पूरी आत्मिक वेदना से कही गयी है। नित्यानंद कविता लिखते नहीं हैं वे कविता कहते हैं। इनकी कविता संवाद करती है और आपको अपनी वार्ता में चुपचाप शामिल कर लेती है। जैसा कि मैंने पहले ही कहा है कि यह समूचा संकलन ही राजनीतिक कविताओं का है, लेकिन इसमें भी यह लंबी कविता, 'यात्रा-शृंखला' अलग से ध्यान खींचती है। इस कविता को मैं समकालीन भारत का एक काव्यात्मक आकलन कहने में संकोच नहीं करता। संग्रह की अन्य कविताओं को मैं अच्छी और बेहतर की कोटि में बांटने में यक़ीन नहीं रखता, लेकिन फिर भी, 'जीवन के कुरुक्षेत्र में', 'मातला नदी पार करते हुए', 'सूखे का पहरा', 'यह वक़्त बोलने का है', 'लाईन में खड़ा आदमी', 'राष्ट्रवाद का दौर', 'सूरदास खुश हुए' आदि कविताएं निश्चित रूप से भारत की यथार्थ छवि का अंकन करती हैं। नित्यानंद भविष्य की हिंदी कविता के एक मज़बूत और स्पष्ट स्वर हैं जो अपनी पहचान दर्ज करा चुका है और जो समय के साथ और अधिक भास्वर होता जा रहा है। नित्यानंद ने अपनी काव्य विकास यात्रा के अनेक पड़ाव पार किये हैं और उनकी कविता में निरंतर एक त्वरा और विकलता बनी हुई है, जो एक कवि के लिए बड़ा शुभ लक्षण है।

4. *इनकार की भाषा*

इस पुस्तक चर्चा की चौथी और अंतिम किताब है कवि शंकरानंद की 2018 में प्रकाशित, *इनकार की भाषा* जो कि कवि का तीसरा संकलन है। शंकरानंद की लिखाई में उनका समय सजगता से उपस्थित है। यह कवि दृष्टि उनके पहले दो संकलनों में भी देखी गयी थी। पहले कविता संग्रह, *दूसरे दिन के लिए* और दूसरे संग्रह, *पदचाप* के साथ वे अपना आना हिंदी कविता में दर्ज करा चुके हैं। शंकारनंद की कवि दृष्टि उनको उनके समकालीन कवियों से अलग करती है। वे चुप रहने को कविता में निरर्थक मानते हैं लेकिन आवाज़ के मर्म को बख़ूबी समझते हैं।

अगर कवि राजेश जोशी के शब्दों में कहें तो शंकरानंद को पता है कि 'चुप रहने से मनुष्यता का ह्रास होता है और इस चुप्पी से ही हत्यारे पैदा होते हैं'। शंकरानंद के काव्य मर्म का मूल तंतु विकलता है। एक सी विकलता जिसे दर्ज किये बिना कवि को किसी तरह भी राहत नहीं मिलती। उस विकलता में मां की कटी अंगुलियां हैं जो रसोई में काम करने से क्षत-विक्षत हैं। मां की अंगुलियों का यह घाव कब मनोव्यथा में परिवर्तित हो कर एक स्त्री की व्यथा बन जाता है, यह समझने में देर लगती है और शंकरानंद की कविता चुपचाप एक प्राचीन हाहाकार को अपने हृदय में अंकित कर लेती है। अक्सर हम कविता को एक शब्द-बंध से अधिक नहीं देख पाते। यह कविता का अवमूल्यन है। प्रत्येक कविता एक जीवित इकाई होती है। उसकी अपनी संवेदना और आकांक्षा भी होती है। यह बात समझने और समझाने के लिए शंकरानंद के इस तीसरे संग्रह की कई कविताएं एक उदाहरण हो सकती हैं।

हमारा आज का समय न केवल निर्मम और क्रूर है बल्कि वह एक साथ ही छल-बल से भी लैस है। इसमें वास्तविक संवेदना को पहचानना और उसे काव्यवस्तु के रूप में कविता के हृदय स्थल में रखना, यह कवि की एक बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी और नैतिक भूमिका है। इसीलिए वे कह पाते हैं कि

चुप रहने पर आवाज़ चुप हो जाती है एक दिन
भाषा चुक जाती है
व्याकरण बिगड़ जाता है चुप रहने से (विरोध)

चुप की परिणति के अनेक उदाहरण हो सकते हैं, लेकिन भाषा का चुप हो जाना और व्याकरण का बिगड़ जाना एक विराट प्रभाव है। यह व्याकरण भाषा भर का व्याकरण नहीं, बल्कि सामाजिकता का व्याकरण अधिक है। जीवन का गणित मौन से मरता है। चुप्पियां उसका जैविक जल सोख लेती हैं और उसमें समझौतों की मृत धूल भर बचती है। मैंने पहले ही कहा है कि शंकरानंद अपने हाहाकार को हाहाकार की तरह नहीं कहते। वे सहते हुए कहते हैं। उनकी कविताएं एक आम भारतीय की सहनशीलता का महाकाव्य हैं। इसके अनेक रंग हैं शंकरानंद के पास। वे सरकार की चुप्पी को ऐसे देखते हैं जैसी उसे नहीं होना चाहिए। उन्हें सरकार की चुप्पी सालती है वे कहते हैं :

अगर समुद्र होता तो गरजता
नदी होती तब भी बहती पुकार लगाती

कोई पक्षी होता तो चहकता दिन रात
हवा होती तो सांय-सांय करती (सरकार की चुप्पी)

अपनी नागरिक सोच और संवेदना को शंकरानंद बिना चीख पुकार के प्रकट करते हैं। मैं अनेक बार प्रतीक्षा करता हूं कि अपनी कविता में शंकरानंद कब शोर मचाते हैं, लेकिन वे बिना शोर मचाये हाहाकार उठाते रहते हैं। ऐसा नहीं कि वे अपनी कविता में फुसफुसाहट पर बल देते हैं। ऐसा भी नहीं है कि वे केवल संकेत करते हैं। नहीं, वे बोलते हैं, अपनी बात पर टिके रहते हैं, एक सहज सहल साधारण जल की तरह वे एकालाप की जगह गहराई तक जिरह में यक़ीन करते हैं और अपनी बात हर हाल में कहते हैं :

आवाज़ के बिना यह समय कितना अधूरा है
कितना निर्जीव कितना मनहूस कि
घड़ी चलती है पर बजता कुछ भी नहीं है (कुछ नहीं बजता)

अपने समय की निरर्थकता को दर्ज करना सरकार और क़ौमों की निरर्थकता को दर्ज करना है। आख़िर वह किन लोगों का समय है जिसमें घड़ी चल रही है लेकिन समय स्थगित है। समय का रुक जाना सभ्यता की अवनति यात्रा के आरंभ का संकेत है। शंकरानंद बिना बड़ी भूमिका बांधे यह बात कह जाते हैं। संग्रह की कई कविताएं अपनी ओर ध्यान खींचती हैं जिनमें, 'पीछा करने की कला', 'हिंसा', 'रात', 'पहाड़', 'यह वृक्ष', 'नींद का हिसाब', 'मां के हाथ' बहुत महत्वपूर्ण हैं।

हिंदी कविता एक संक्रांति समय से आगे आ चुकी है। इसे संवर्धित करने वाले अनेक कवि आज सक्रिय हैं। यहां जिन चार कवियों और उनकी किताबों पर बात हुई है, उनमें शामिल रचनाएं हिंदी कविता के वर्तमान के साथ ही भविष्य की दिशा का निर्धारण करने वाली कविताएं भी हैं।

मो. 9820212573

पुस्तक-संदर्भ

1. *ध्रुवतारा जल में*, विवेक निराला, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2017
2. *जीवन इन दिनों*, प्रभात, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019
3. *इस तरह ढह जाता है एक देश*, नित्यानंद गायेन, अधिकरण प्रकाशन, दिल्ली, 2018
4. *इनकार की भाषा*: शंकरानंद, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, 2018

समकालीन उर्दू ग़ज़ल का परिदृश्य

(शकील जमाली, नो'मान शौक़ और नसीम अजमल के ग़ज़ल संग्रहों के बहाने)

रहमान मुसव्विर

उर्दू ग़ज़ल पर प्राय: यह आरोप लगता रहा है कि यह हुस्नो-इश्क़, लबो-रुख़सार, जामो-मीना के इर्द गिर्द घूमती रही है और इसके कोई सामाजिक या राजनीतिक सरोकार नहीं रहे हैं। लेकिन हक़ीक़त इसके बरक्स है। उर्दू ग़ज़ल अपने आरंभ से ही अपने समय और समाज के साथ साक्षात्कार करती रही है । लेकिन ग़ज़ल चूंकि अपनी संरचना और प्रकृति में बहुत विशिष्ट और प्रतीकात्मक रही है, इसलिए उसे उसी तरह समझने और देखने की आवश्यकता है। उर्दू ग़ज़ल अब बहुतायत में नागरी लिपि में प्रकाशित हो रही है और सामान्य पाठक तक आसानी से पहुंच रही है। सोशल मीडिया ने इस पहुंच का विस्तार किया है । मीर और ग़ालिब से लेकर फ़ैज़ और नासिर काज़मी तक का कलाम तो नागरी में लिप्यंतरित होकर आया ही है, समकालीन शायरों के संग्रह भी न केवल लिप्यंतरित होकर, बल्कि सीधे नागरी लिपि में प्रकाशित हो रहे हैं। इससे हिंदी पाठकों के बीच उर्दू ग़ज़ल सीधे पहुंच रही है और उसके क्षितिज का विस्तार हो रहा है। यहां समकालीन उर्दू ग़ज़ल के तीन महत्वपूर्ण संग्रहों पर चर्चा की जा रही है जो नागरी लिपि में प्रकाशित हुए हैं :

काग़ज़ पर आसमान : शकील जमाली, एनी बुक पब्लिकेशन, ग्रेटर नोएडा, 2017
चारों तरफ़ बिखरते हुए : नसीम अजमल, अनामिका पब्लिशर्स, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2017
आख़िरी इश्क़ सबसे पहले किया : नो'मान शौक़, रेख्ता बुक्स-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019

इन संग्रहों के शायरों की पृष्ठभूमि एक दूसरे से नितांत भिन्न है । इसी कारण शैली, शब्दावली, रवैये और संवेदना के धरातल पर इनकी शायरी एक दूसरे से बिलकुल अलग और विशिष्ट है, हालांकि एक ही समय में होते हुए वे एक जैसे राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य से रूबरू होते हैं। शकील जमाली मूलत: चांदपुर (बिजनौर) के हैं। कारोबार के सिलसिले में दिल्ली आये और यहीं के हो गये। शकील जमाली ज़बान की सादगी और कथ्य की नवीनता के लिए जाने जाते हैं। इनकी शायरी के विषय में उर्दू आलोचक हक्कानी-अल-क़ासमी लिखते हैं कि 'आम आदमी के जज़्बे व एहसास से शकील जमाली की शायरी का बहुत गहरा रिश्ता है। ये वो आदमी है जो हमेशा मुआशरे के हाशिये पर रहा है, जो इस्तेह्साल-ज़दा (शोषित) है जिसकी हर आवाज़ जब्र की क़ुव्वत दबा देती है। शकील जमाली ने आम आदमी के दर्दो-कर्ब को अपने बयानिया में मर्कज़ियत (केंद्रीयता) अता की है'। नसीम अजमल का संबंध लखनऊ से है। दिल्ली विश्वविद्यालय में गणित के प्राध्यापक रहे। गणितीय समस्याओं से जूझते हुए ग़ज़ल की जुल्फों की उलझने भी सुलझाते रहे। गणित की अमूर्तता में डूबते उतरते वे दर्शन की ओर झुकते दिखायी देते हैं जिसकी झलक उनकी ग़ज़लों में साफ़ देखी जा सकती है। इनके बारे में ज्ञान प्रकाश विवेक लिखते हैं, 'आधुनिकता का जन्म परंपरा की कोख से होता है। इस बात को नसीम अजमल अच्छी तरह से जानते हैं। यही वजह है कि वो आधुनिकबोध के अतिरिक्त परंपरा से जुड़ी तहरीक, निशानियां और स्मृतियों को भी शायरी से ख़ारिज नहीं होने देते। उनकी शायरी की ज़बान उर्दू हिंदी के मेल मिलाप से बनी हिंदुस्तानी ज़बान है।' नो'मान शौक़ मूल रूप से आरा, बिहार से संबंध रखते हैं। वे आकाशवाणी दिल्ली के उर्दू प्रभाग में सेवाएं दे रहे हैं। इनकी ग़ज़ल इश्क़ को नये सिरे से परिभाषित करते हुए सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों को व्यंग्यात्मक स्वर देती है। इनकी ग़ज़ल संवेदना की उस भावभूमि पर अवस्थित है जहां विचार भी है और प्रतिरोध भी। अपनी शायरी के बारे में उनका विचार है कि 'मेरे लिए शायरी में शब्द उस गोली की तरह हरगिज़ नहीं जो पिता की पिस्तौल से खेलते बच्चे से नादानी से चल जाती है, बल्कि उस फूल की तरह है जिसे शाख़ से उतारने से पहले ख़याली या हक़ीक़ी चेहरा बनाता हूं जिसके बालों में इसे गजरे की तरह टांकना है । मेरा निशाना साफ़ है चाहे ज़द पर मैं ख़ुद ही क्यों न आऊं।'

ग़ज़ल हर दौर में सर्वाधिक लोकप्रिय विधा रही है। वर्तमान में भी इसकी लोकप्रियता का जादू सर चढ़कर बोल रहा है। ग़ज़ल की सांगीतिकता भी इसका एक प्रमुख कारण रही है। यह ख़ास से लेकर आम लोगों तक के हृदय पर राज करती रही है। ग़ज़ल की लोकप्रियता और स्वीकार्यता का कारण संभवत: यह रहा है कि ग़ज़ल ने अपनी परंपरा का निर्वाह करते हुए आधुनिकबोध को भी उदारता के साथ आत्मसात किया है।

यह आधुनिक बोध कथ्य, विचार, भाव, शिल्प और शब्द आदि सभी स्तरों पर रहा है। आज की ग़ज़ल वस्ले-यार की तमन्ना, महबूब के वियोग का दर्द, इंतिज़ार की तड़प, दोस्त की बेवफ़ाई आदि विषयों के बीहड़ से निकल कर सामाजिक विद्रूपता, आर्थिक विषमता, मज़दूरों के दर्द, किसान की बेचारगी, स्त्री की अस्मिता और आम आदमी की प्रतिदिन की समस्याओं तक आ पहुंची है। समकालीन उर्दू ग़ज़ल वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी मुखर है। छल, कपट, बेईमानी, क्रूरता और हिंसा के दानव ने राजनीति का अपहरण कर लिया है। अब राजनीति प्रपंच के अतिरिक्त कुछ नहीं रह गयी है। यह ऑखें होते हुए भी अंधी है, कान होते हुए भी बहरी है और ज़बान होने के बावजूद गूंगी है। समकालीन शायरों ने इस स्थिति को देखा और अपने अपने ढंग से बयान किया है :

फिर इस मज़ाक़ को जम्हूरियत का नाम दिया
हमें डराने लगे वो हमारी ताक़त से (नो'मान शौक़, 45)

अब किस ख़ुदा को लाऊं गवाही के वास्ते
सब फ़ैसले तो पहले ही सरकार कर चुके (नो'मान शौक़, 52)

अब मुझे और क्या ख़बर देगा
वो अंधेरों को रात कर देगा (नसीम अजमल, 71)

आंख खोलूं तो वो हंसता है बहोत
ख़्वाब देखूं तो डरा देता है (नसीम अजमल, 110)

नफ़रतें बेचने वालों की भी मजबूरी है
माल तो चाहिए दूकान चलाने के लिए (शकील जमाली, 47)

ये शायर इस परिदृश्य को खुली आंखों से देखते हैं, चिंतन करते हैं और राजनीति को सीधे सीधे नसीहत भी करते हैं और तंबीह भी :

अगर साफ़ सुथरी सियासत करो
दिलों पर सदा बादशाहत करो
ये फ़िर्कापरस्ती बुरी चीज़ है
हुकूमत मिली है हुकूमत करो (शकील जमाली, 66)

अगर हम लोग थोड़ी देर लड़ना भूल जाते हैं
सियासी रहनुमाओं का पसीना छूट जाता है (शकील जमाली, 54)

नाच कर थक चुके सब तेरे ख़रीदे हुए मोर
झूठ की फ़स्ल को उम्मीद है बरसात की अब (नो'मान शौक़, 126)

शायर जो देखता और सुनता है उस पर अपनी बेबाक टिप्पणी करता है। यह उसका मूल धर्म है। वह शुतुरमुर्ग़ की भांति ख़तरा देखकर आंख बंद नहीं कर लेता है बल्कि अपने क़लम और कलाम से उसका मुक़ाबला करता है।

सुनेगा क्या सितारों की सदाएं
मेरा आकाश बहरा हो गया है (नसीम अजमल, 105)

नहीं तो शह्र ये सो जायेगा सदा के लिए
मुझे ख़बर है मिरा बोलना ज़रूरी है (नो'मान शौक़, 53)

सच्चे शायर की पहचान यही है कि वह सत्ता और शासक के सामने घुटने नहीं टेकता है। उसे जो सही लगता है वही कहता है। वह पिछलग्गू नहीं बनता है। शायर ख़ुद को भी सचेत करता है और अपने समाज को भी सचेत करता चलता है। वह न अतीत पर पर्दा डालता है , न वर्तमान से मुंह

मोड़ता है और न भविष्य से आंखें चुराता है। वह समय की आंखों में आंखें डालकर अपने होने का एहसास दिलाता है। वह सत्ता से सवाल करने का माद्दा रखता है और पूरी शक्ति के साथ अपना प्रतिरोध दर्ज करता है :

कब तलक देखेगा मेरे साथ ना इंसाफ़ियां।
यार मेरे तेरी पेशानी पे बल कब आयेगा (शकील जमाली, 43)

एक फ़ायदा ज़रूर हुआ एहतेजाज से
जो ढो रहे थे हमको वो कांधे बदल गये (शकील जमाली, 147)

जन्नत मिलेगी उसने कहा मोमिनीन को
जलाते हुए मकान से आयी सदा कि बस (नो'मान शौक़, 35)

दुश्मने-जां हो अगर ऐसे ख़ुदाओं का हुजूम
हमने सीखा नहीं राज़ी-ब-रज़ा हो जाना (नो'मान शौक़, 24)

इक न इक दिन ज़मीन बोलेगी
रोज़ सर पर ये आसमां बोले (नसीम अजमल, 191)

तमाम मुश्किलों के बीच भी आज का शायर आशान्वित है। वह जानता है कि घनघोर अंधेरे के बाद उजास फैलेगी और नया सूर्य उदित होगा। वह अपने सामाजिक सरोकारों के प्रति भी सचेत है। वह जिस समाज का हिस्सा है उसके उतार चढ़ाव और उलझनों को भी अपनी शायरी में स्वर देता है। मां, बाप, भाई, बहन, दोस्त, रिश्तेदार इत्यादि के बीच जो संबंध हैं उनमें मिठास है तो तनाव भी है, और कड़वाहटें भी। और उन सबके बीच रिश्तों के दरकने का मलाल भी है। इन सब की प्रतिध्वनियां समकालीन उर्दू ग़ज़ल में सुनायी देती हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि उसने इश्क़ करना छोड़ दिया है। इश्क़ तो जीवन का हिस्सा है। यह अलग बात है कि आज के इश्क़ का परंपरागत रूप भी बदल रहा है। नये ज़माने के नये रवैयों की अनुगूंज उसकी शायरी में सुनायी पड़ रही है :

उम्र मुक़र्रर होती है हर रिश्ते की
मजबूरन भी हाथ छुड़ाना पड़ता है (नो'मान शौक़, 91)

लुटाते हो जो इतना प्यार मुझ पर
तुम्हें पहचान भी है आदमी की (नो'मान शौक़, 66)

याद रखता है हर इक वक़्त मुझे
वक़्त आने पे भुला देता है (नसीम अजमल, 111)

अगर हमारे ही दिल में ठिकाना चाहिए था
तो फिर तुझे ज़रा पहले बताना चाहिए (शकील जमाली, 151)

चलो क़ुबूल कि दिल से निकालना है उसे
वो बेवफ़ा है तो क्या मार डालना है उसे (शकील जमाली, 155)

भूमंडलीकरण और तथाकथित उदारवाद ने एक नयी व्यवस्था को जन्म दिया है। यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें सूचकांक के बढ़ने के साथ साथ आम आदमी की तकलीफ़ें भी बढ़ती हैं। आम आदमी भीतर और बाहर दोनों जगहों से टूट रहा है। समाज और परिवार में मूल्यों का विघटन चिंताजनक है। अपसंस्कृति अपने चरम पर है। अर्थव्यवस्था का विस्तार अनियंत्रित दानव की भांति हो रहा है। प्रत्येक विचार और भाव अब उत्पाद बन चुके हैं। सारी दुनिया उत्पाद और उपभोक्ता में विभाजित है। अब व्यक्ति के आसपास बाज़ार ही बाज़ार है, सिर्फ़ बाज़ार। यह बाज़ार रचनाधर्मिता को भी प्रभावित कर रहा है :

ये कैसे इलाक़े में हम आ गये
घरों से निकलते ही बाज़ार है   (शकील जमाली, 64)

दुनिया को जो नुक़सान हुआ हमसे हुआ है
हम लोग जो बाज़ार से बाहर के निकल आये   (नो'मान शौक़, 135)

रियायतों की दिल आवेज़ तख़्तियों पे न जा
दुकानदार   किसी   का   सगा   नहीं होता   (शकील जमाली, 125)

मौजूदा अर्थव्यवस्था ने शोषण के नये तरीक़े ईजाद किये हैं। ग़रीबों को संपन्न बनाने के दावे ध्वस्त हुए हैं। पूंजीपतियों की तिजोरी और अधिक लबालब हो गयी है जबकि ग़रीब का जीवन पहले से कहीं अधिक बदतर हुआ है। इसमें मज़दूर की हालत सबसे ज़्यादा पस्ता हुई है। शायर इस दर्द को यों बयान करते हैं :

रात हमारे घर जल्दी आ जाया कर
हमें सवेरे काम पे जाना होता है (शकील जमाली,116)

ऐसा लगता है कि ये लोग कहीं रहते हैं
ऐसा लगता है कि ये लोग पुकारे हुए हैं (नसीम अजमल,153)

प्राय: आधुनिकता या नयेपन की रौ में अपनी जड़ों को भुला दिया जाता है। परिणामस्वरूप रचना चौंकाती प्रतीत तो होती है लेकिन उसमें खोखलापन साफ़ नज़र आता है। लेकिन उर्दू की नयी ग़ज़ल ने परंपरा का दामन नहीं छोड़ा है। उसमें कथ्य और शिल्प के स्तर पर प्रयोग तो हैं लेकिन उनकी जड़ें अपनी परंपरा से विलग नहीं हैं, इसलिए उनमें इकहरापन नहीं है। यह ज़रूरी नहीं है कि शायर किसी दर्शन में बंधा हो। वह स्वच्छंद होकर इस कायनात को देखता है और इसके रहस्यों को खोलने की कोशिश करता है। प्रत्येक शायर दुनिया को अपनी दृष्टि से देखता और समझता है। वह दैनिक जीवन की मामूली लगने वाली चीज़ों और घटनाओं को अपनी विशिष्ट दृष्टि से विशिष्ट बना देता है। ग़ज़ल यों तो एक पारंपरिक और शास्त्रीय विधा है। इसकी संरचनात्मक स्वरूप से छेड़छाड़ नहीं की जा सकती है, न उस स्तर पर कोई प्रयोग संभव है, लेकिन कथ्य और शब्द प्रयोग के लिहाज़ से समकालीन शायर ग़ज़ल के साथ बेबाक़ प्रयोग कर रहा है और वह उसमें सफल भी है :

हमीं तो हैं जो ये गुंजाइशें निकालते हैं
ग़ज़ल में वैसे हिरन का शिकार होता नहीं (शकील जमाली, 53)

यही तो हो जो ख़यालों से जा नहीं रहा है
ये आदमी जो मेरा फ़ोन उठा नहीं रहा है (शकील जमाली, 160)

बर्फ़ की तह में लरज़ती हुई शाम
ऐसा मंज़र भी छुपा था मुझ में (नसीम अजमल, 80)

सितारे   ख़मोशी   लपेटे   खड़े हैं
ज़रा इनसे कुछ बात करके भी देखें   (नसीम अजमल,139)

ज़मीं की शक्ल ही तूने बिगाड़ कर रख दी
जुनून   छोड़   इसे आसमां बनाने का (नो'मान शौक़, 77)

लाख कोई चीखे चिल्लाये शोर अंदर कब आता है
उसकी बस्ती के नक़्शे में अपना घर कब आता है (नो'मान शौक़,117)

समकालीन उर्दू ग़ज़ल केवल इश्क़ का नग़मा और टूटते रिश्तों का शोकगीत नहीं है। इन ग़ज़लों में युगबोध की पदचाप भी स्पष्ट सुनायी देती है। समस्त विश्व शोषण के चक्रव्यूह में फंसा हुआ है। क्षुद्र इच्छाओं के चलते मानवता लहुलुहान है। सिंहासन पर बैठे आक़ा केवल सत्ता बचाये रखने के लिए लाशों से खेल रहे हैं। हिंसा, अन्याय, सांप्रदायिकता, धर्मांधता और स्वार्थलोलुपता का नंगा नाच हो रहा है। ऐसे में संवेदनशील शायर सिर्फ़ हुस्न, जाम, होंठ, बुलबुल, चांद और सितारों के सौंदर्य के मोहपाश में ही बंधा नहीं रह सकता है। वह इन समस्त विद्रूपताओं के विरुद्ध अपनी शाब्दिक और रचनात्मक प्रतिक्रिया देता है। इस संपूर्ण परिप्रेक्ष्य में शकील जमाली, नो'मान शौक़ और नसीम अजमल की शायरी आश्वस्त करती है।

मो. 9871610200

पुस्तक संदर्भ :

***काग़ज़ पर आसमान* : शकील जमाली, एनी बुक पब्लिकेशन, ग्रेटर नोएडा, 2017**
***चारों तरफ़ बिखरते हुए* : नसीम अजमल, अनामिका पब्लिशर्स, दरियागंज, नयी दिल्ली, 2017**
***आख़िरी इश्क़ सबसे पहले किया* : नो'मान शौक़, रेख्ता बुक्स-राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2019**

यथार्थ का पुनर्सृजन ही कविता है

(तीन काव्य-संग्रह, तीन कवि)

प्रेम तिवारी

संसार का प्रत्येक कवि अपने जीवन-यथार्थ को कल्पना, अनुभूति और संवेदना से बदलकर उसे पुनर्सृजित करता है। भाषा में यह पुनर्सृजन ही कविता है। कविता पढ़ना इसीलिए एक दिलचस्प और संवेदनशील अनुभव है। कविता की संरचना में ही कुछ ऐसा है, कि वह यथार्थ को, जो चाहे कितना भी क्रूर और ठोस हो, यथास्थिति में नहीं रहने देती। उसे बदल देती है। कविता हमें उम्मीदों से भरे रखती है। कविता के सामने कुछ भी शाश्वत नहीं। न कोई सत्ता, न उसका डर, न कोई निराशा, न अंधेरा। कवि की दृष्टि अनोखी होती है। इतनी अनोखी कि संसार के किन्हीं दो कवियों ने एक ही विषय पर बिलकुल एक-सी कविता नहीं लिखी है। यह कवि की सृजनशीलता के मौलिक होने का भी प्रमाण है। जिन तीन संग्रहों की यहां चर्चा होगी, उससे भी यह सिद्ध है।

पी.एम.एस. ग्रेवाल कवि हैं, यह बात हिंदी कविता की दुनिया में बहुत कम लोग जानते हैं। अपने कवि होने का कोई प्रचार या प्रदर्शन उन्होंने कभी नहीं किया। कविताएं लिखते रहे। कुछ कविताएं हिंदी में लिखी हैं, कुछ पंजाबी और अंग्रेज़ी में। मूलतः पंजाबीभाषी ग्रेवाल साहब की पकड़, हिंदी और अंग्रेज़ी पर भी कमाल की है। इनकी हिंदी-अंग्रेज़ी कविताएं इसका प्रमाण हैं। पी.एम.एस. का मुख्य अभ्यास इतिहास के अनुशासन में रहा है। और कई वर्षों तक मध्यकालीन इतिहास के प्रोफ़ेसर रहे। बाद में वामपंथी राजनीति में सक्रियता और व्यस्तता के चलते नौकरी छोड़ दी। और अपना पूरा समय सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों को सक्रिय नेतृत्व देने में लगाया। इस राजनीतिक अनुभव की स्पष्ट अभिव्यक्ति इनकी कविताओं में हुई है। उनकी चौवालिस कविताओं का एक संकलन, *अभी कुछ आग है बाक़ी* शीर्षक से इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। इसमें हिंदी के साथ पंजाबी और अंग्रेज़ी की कविताएं भी हैं। यह अनुमान तो संग्रह के शीर्षक से ही लग जाता है कि ये कविताएं ललकार से भरी हैं। संग्रह की पहली कविता 'आज़ाद राहों के नाम' पढ़कर लगता है, यह कवि का काव्य-समर्पण है: 'क़त्लगाहों के नाम, बेगुनाहों के नाम/ माओं की बेबस दुआओं के नाम/ बग़ावत की तपती हवाओं के नाम / ख़्वाबों की आज़ाद राहों के नाम।' किसी काव्य-संग्रह का ऐसा समर्पण मैंने अब तक नहीं देखा है।

दूसरी कविता, भगतसिंह को फांसी देने वाले जल्लाद और भगतसिंह के बीच लंबा संवाद है। भगतसिंह से जल्लाद के यह पूछने पर कि इंक़लाब से आख़िर तुमने क्या हासिल किया? भगतसिंह जवाब में जो कुछ कहते हैं उसे कविता के शिल्प में बस एक लय में पिरो दिया गया है। इस कविता में अंग्रेज़ी हुकूमत के अन्याय, अत्याचार, शोषण, ग़ुलामी, दमन और देश की भीषण दुर्दशा के ऐसे अनेक चित्र हैं, जो उस दौर के इतिहास की ही याद ताज़ा नहीं कराते, बल्कि आज के दौर में भी सत्ता के दमन की साफ़ झलक दिखाते हैं। मतलब यह कि इंक़लाब की ज़रूरत अभी ख़त्म नहीं हुई है। साम्राज्यवाद के विरुद्ध इंक़लाब का नारा बुलंद करते हुए भगतसिंह कहते हैं : 'वतन की आज़ादी ख़ातिर/ हमने जान-जवानी वारी/ मरके भी सामराज को/ बहुत पड़ेंगे हम भारी... राख हमारी इंक़लाब के/ सदा तराने गायेगी/ नाउम्मीदी के सहरा में / बाग़ी फूल खिलायेगी।' साम्राज्यवादी ताक़तों के विरुद्ध यह लड़ाई आज एक नये दौर में पहुंच गयी है।

संग्रह में, ऐतिहासिक घटना पर आधारित 'भूमि रण की गौरव गाथा' शीर्षक से एक लंबी कविता है। इस कविता में 'बनारस' ज़िले की एक छोटी-सी तहसील 'चकिया' में हुए भीषण भूमि-संघर्ष का जीवंत चित्रण है, जो हक़ के प्रति जनता को जागरूक करती है और मन में जोश भरती है। इस संघर्ष में, कम्युनिस्ट पार्टी का लाल झंडा लिये एक ओर ग़रीब और बेबस मज़दूर-किसान हैं, दूसरी ओर बनारस के राजा, उसके गुंडे और सत्ता-प्रशासन। लेकिन जीत अंततः जनता की संगठित शक्ति की होती है। कवि ने इस भीषण भूमि-संघर्ष का भाषा में लयबद्ध सर्जनात्मक चित्रण किया है : 'हाथ में लाठी, उसपर झंडा/ लहराता हुआ लाल निशान/ बिना ख़ौफ़ के लड़ने निकला/ चकिया का मजलूम किसान/ हम ही मालिक इस भूमि के/ हम ही फ़सलों के हक़दार/ बहुत हुआ अब नहीं सहेंगे/ किसी तरह के अत्याचार'। अपने हक़ के लिए किसान आज फिर सड़कों पर है। सत्ता उसे छलने के हर हथकंडे अपना रही है, लेकिन वह अपनी मांगों के साथ डटा है।

संग्रह की अधिकांश कविताएं बेबस और लाचार इंसानों को निडर बनाने, अधिकारों के प्रति सजग करने, अन्याय के विरुद्ध लड़ने और उनमें क्रांतिकारी विचार जागृत करने वाली कविताएं हैं। ये अंधेरे में शमा जलाने वाली कविताएं हैं : 'फिर कहीं शमा जली/ आज़ादी के परवानों की / फिर कहीं उठी दहाड़/ लाखों बेजुबानों की/ फिर किसी ग़ुलाम ने/ सुल्तान को ललकारा है/ फिर किसी अवाम ने/ कहा ये मुल्क हमारा है।'

संग्रह में एक कविता 'जनवादी लेखकों के नाम' है। जिसमें कवि ने जनवादी कवियों पर तंज़ किया है कि 'ऐ कलम की दौलत वालो/ क्यों कुंद है कलम तुम्हारी?/ क्यों थके हुए जज़्बों पर करते हो सवारी? ...क्या साहित्यिक आलोचना की/ अफ़लतूनी बातें/ रौशन कर पायेंगी/ जनता के दुख की रातें? ...क्यों भूल गये हो लिखना/ आंदोलन का अफ़साना/ क्यों नहीं रच पाते/ संघर्ष का गीत-तराना?' और अपील करता है कि ' लिख

डालो कुछ ऐसा/ जनता के काम जो आये/ रच डालो कुछ ऐसा/ जिससे दुश्मन थर्राये'। पी.एम.एस. ग्रेवाल राजनीतिक कवि हैं। कविता में भाषा का न कोई अनावश्यक चमत्कार है, न पाठक पर उसका कोई भार। ये कविताएं अपने तीखे अंतर्वस्तु के कारण ही छाप छोड़ती हैं। ग्रेवाल साहब ने सिर्फ़ संघर्षों और आंदोलनों को ही कविता का विषय नहीं बनाया है बल्कि बच्चों के लिए भी कविताएं लिखी हैं। इनकी 'क्यों?' शीर्षक कविता प्राकृतिक और वैज्ञानिक रहस्यों के प्रति बच्चों में जिज्ञासा जगाने वाली रोचक कविता है : 'कैसे उठती जल में लहरें/ क्यों आ जाता है तूफ़ान/ क्या ये देवों की मर्ज़ी है/ क्या मानव को इसका ज्ञान? ...इतने पक्षी कहां से आये/ क्यों हैं इतने जीव अनेक/ क्यों सदियों में ये उपजे हैं/ या बन बैठे दिन में एक'। समाज के वर्गीय अंतर्विरोध के यथार्थ को व्यंग्यात्मक ढंग से इन्होंने अपनी 'ठंड' कविता में अभिव्यक्त किया है : 'ठिठुर रहे वे ठंड में/ न कोट न लिहाफ़ है/ हिंद में गरीब के/ मौसम भी ख़िलाफ़ है/ एक ओर हीटरों के/ ताप का सुकून है/ दूजी ओर जम रहा/ आदमी का ख़ून है ... हर जमात के लिए/ ठंड अलग विसात है/ कुछ के हाथ शह लगी/ बाक़ी सबकी मात है।' संग्रह में 'बारिश के दो चेहरे', 'दीवानगी', 'अदालत', 'लाल काज़ी के नाम', 'इक परेशान बेटी के नाम', 'फ़िलिस्तीनी जांबाज़ों के नाम', 'हम न रहे तो क्या हुआ' आदि शीर्षक से एसी कविताएं हैं, जिन्हें पढ़कर ज़ुबां कह उठती है : 'जवानी लुट गयी लेकिन/ अभी कुछ आग बाक़ी है/ हमारी मयपरस्ती में/ ज़हर न घोल ऐ साक़ी...।'

ग्रेवाल साहब की कविताओं में, कवि के भीतर जो खौल रहा है, उसे कह देने की एक जल्दबाज़ी है, इसलिए 'भाषा' और 'रूप' की दृष्टि से ये कविताएं एकदम सीधी-सपाट दिखती हैं। कविता की भाषा और उसके बनाव-सिंगार पर उतना ध्यान नहीं है, जितना 'कथ्य' पर। लेकिन गोबिंद प्रसाद एक बिलकुल सजग कवि हैं। हिंदी कविता की दुनिया में इनकी एक ख़ास पहचान है। कविता में कही जाने वाली बात पर ही नहीं, कहने के ढंग पर भी कवि बेहद संजीदा है : 'जब मैं बोलता हूं/ तो दरअस्ल बोलता कहां हूं/ अंदर-ही-अंदर खौलता हूं रह-रहकर/ ... उस भाषा में/ जिसमें इस हत्यारी संस्कृति की समाई हो नहीं सकी ... कहीं अपने में घोलता हूं/ ज़हर में बुझा वह समय/ जिसकी नाव पूंजी और बाज़ार के/ चप्पुओं के गठजोड़ पर चल रही है।' कवि अपने समय की भीषण विडंबनाओं और विद्रूपताओं के बिलकुल सामने खड़ा है, भीतर खौलता हुआ और विवश। 'अपने को/ अपने में सोए हुए को/ झिंझोड़ता हुआ।' बेशक, देश जिन हालात से गुज़र रहा है, उसमें हर नागरिक बेबस होकर अपने को झिंझोड़ ही तो रहा है। यह छटपटाहट कवि की ही नहीं, हाहाकार करते पूरे देश की भी है। जनवादी कवियों से ग्रेवाल साहब की जो शिकायत है, उसे गोबिंद प्रसाद के संग्रह, *यह तीसरा पहर था* की कविताएं दूर करती हैं। यह काव्य-संग्रह 2018 में आया है। इस संग्रह में 'रूप' और 'अंतर्वस्तु' की बहुत विविधता है। तानाशाह सत्ता की क्रूरता और दमन कवि के मानस को खौलाती हैं, तो 'सर्जना का रंग' से उसमें उम्मीद भी जागती है : 'तुमने ज़मीनें हड़पीं, फ़सलें जलायीं, खेत चुराये/ धरती की कोख चुराकर दिखाओ/ धरती की कोख से हर पल खिलने वाली/ सर्जन का हरा रंग चुराकर दिखाओ/ दिखाने के लिए है क्या तुम्हारे पास।' कवि इंसानियत को तार-तार होते देख, इस दौर में 'इंसानियत जैसा कुछ गढ़ने के लिए, आसमान, हवाओं और फूलों के पास जाता है, लेकिन उसकी यह उम्मीद पूरी नहीं होती, बल्कि फूल तो उसे बेरंग, उदास और खौफ़ज़दा-से महज़ टंगे दिखायी देते हैं। उसकी यह उम्मीद पूरी होती है मज़दूरों की एक बस्ती में : 'आख़िरकार मायूस होकर मेरे क़दम/ मज़दूरों की खंडहरनुमा उस बस्ती की ओर उठ गये/ जहां बुझे हुए चूल्हों में आग की लपटें नाच रहीं थीं/ जिनमें नंगे बच्चे/ और रोटी पकाते हाथों की छायाएं/ दीवारों पर झुलस रही थीं/ आंखों में जल रहे थे बस्ती के सपने।' यह महज़ संयोग नहीं कि दोनों कवि मज़दूरों से ही इंसानियत की उम्मीद रखते हैं। ऐसी उम्मीद दरअस्ल वही कवि रख सकता है, जिसका जनवादी मूल्यों में अटूट विश्वास हो और जिसे अपने युग के वास्तविक और तीखे अंतर्विरोधों की सच्ची पहचान हो। इस नवउदारवादी पूंजीवादी दौर में पनपे नये बाज़ारों ने धीरे-धीरे गांवों-क़स्बों तक में जो पैठ बनायी है और एक बहुत बड़ी युवा आबादी को भ्रमित कर, उसके साथ जो छल किया है, उसकी बिलकुल ठीक पहचान गोबिंद जी ने 'कौन देश के घिरे हैं बदल', 'सपने भी अब सपने कहां,' 'आओ सब मिलकर' और 'बाज़ार तंत्र' कविता में की है। कवि ने पूंजी को इंसानियत की ख़ुशबू चुराने वाला और उसकी रंगत उड़ाने वाला माना है। इसलिए इस पूंजी को वह जलाकर भस्म कर देना चाहता है *:* 'कितना अच्छा हो जीवन में ज़हर बोने वाली/ ज़ुल्म-अन्याय/ दमन-अत्याचार की बेलें/ सूख-सूख मुरझायें, पूंजी का वन जलकर खाक हो जाये/ धरती के कण-कण में मनुष्यता का बीज अंकुर बन-बन फूटे'। इस बाजार-तंत्र में कवि अकेला हो गया है : 'बाज़ार-तंत्र में घिरा अकेला/ पूंजी-वन में भटक रहा हूं/ रहबर, आक़ा, बंधु-सखा सब/ क़दम-क़दम पर मुख मोड़े हैं।' इस पंक्ति को पढ़कर निराला और त्रिलोचन की याद एक साथ ताज़ा हो गयी। निराला ने भी लिखा है : 'बोलते हैं लोग ज्यों मुख मोड़कर'। निराला भी अकेले हो गये थे। वे अपने युग के अंधेरे से संघर्ष कर रहे थे। त्रिलोचन की याद लय और लहज़े के कारण आयी। गोबिंद जी निराला और त्रिलोचन की काव्य परंपरा को आगे बढ़ाने वाले कवि हैं।

इस युग का बाज़ार-तंत्र इतना मोहक और निर्मम है कि सामान्य व्यक्ति इसे समझ ही नहीं सकता है। कवि ने इसे एक ही फ़्लैश में दिखा दिया है : 'गांवों से भी दूर/ कच्चे और टूटे घरों की/ गंदी बस्तियों से क़स्बे की धूल ओढ़कर आयी थीं कुछ लड़कियां/ दिन-रात एड़ियां रगड़ने के बाद शहर में/ उन्हें अपनी हंसी बेचने का काम मिला।' यहां तक बाज़ार मोहक था। लेकिन 'एक दिन/ फिर उनमें से एक ने जब इसी शहर में/ अपने को किसी एक नौजवान की आंखों में देखा/ तो सहसा उस नौजवान को एक एसएमएस मिला-/ 'तुम्हारी आंखों में जो अपने आप को बसाना चाहती है/ फ़िलहाल उसकी तमाम मुस्कुराहटें हमारे पास गिरवी हैं/ और उसके सपने बाज़ार में/ कौड़ी के तीन-तीन भाव बिकते हैं/ लेकिन उसके सपनों की बोली भी हम ही लगाते हैं और हम ही छुड़ाते हैं/ उसको अपने आप से मुक्त करने का/ हमारे पास यही एक तरीक़ा है।' बाज़ार निजी जीवन के भीतर इतनी निर्ममता से घुसा है कि मन सिहर उठता है। यह नया बाज़ार जनवादी अधिकारों को ही नहीं, 'प्रेम' और 'करुणा' जैसे मानवीय अधिकारों को भी हड़पता जा रहा है। कवि बाख़बर है कि 'सपने भी अब सपने कहां/ इन आंखों में/ रहते हैं अब अपने कहां/ बाज़ार के वो आक़ा हैं न/ झांसे में उनके आकर/ चले गये हैं, कौन जाने बसने कहां!' पाश की फ़िक्र भी सपनों को मरने से बचाये रखने की थी। आज सपनों को यह 'बाज़ार' लील रहा है, मार

रहा है। कवि सपनों को इस मोहक बाज़ार में मरता देख चिंतित और फ़िक्रमंद है। लेकिन निराश नहीं। उसे मालूम है कि संघर्षों से ही टूटेगा इस बाज़ार और पूंजी का तिलिस्म। इसलिए बड़े आत्मीय ढंग से समझाता है : 'दोस्तो, सवाल नयी भाषा में बोलने का ही नहीं/ उसे कर्म की भाषा में बुनकर/ जीवन की एक नयी हूक उमगाने में है।' कथनी-करनी का भेद मिटाकर पूंजी के विरुद्ध एक वास्तविक युद्ध में उतरने से ही होगी इंसानियत की जीत।

गोबिंद प्रसाद की कविता में इस सदी के दूसरे दशक की छवियां कई-कई रूपों में चित्रित हुई हैं। इनमें सत्ताधारी राजनीतिक दल का जनविरोधी फ़ासीवादी चरित्र, झूठे वादे और उसके दमन की घटनाएं सबसे ऊपर हैं। कवि ने बिंबों और भाषा के बनाव-सिंगार का मोह छोड़कर बिलकुल सरल-सपाट भाषा में लिखा है : 'दोमुंही भाषा के बलबूते/ आख़िर कब तक चलते/ चारों ओर से अब पड़ रहे हैं जूते/ पर इनका क्या बिगड़ता है/ ... किसान-मज़दूरों/ सर्वहारा-दिशाहारों की बात छोड़िए/ पढ़े-लिखे तक को/ ये नये-नये नारों से बहलाते हैं/ सब्ज़-बाग़ दिखाते हैं,/ सपनों से बहकाते हैं/... देखिए न,/ हुक्कामों को कितनी फ़िक्र है/ मुल्क का भविष्य चमकाने की।' तो कहीं प्रतीकों में क्रांतिकारी जनसंघर्ष और जीत की अभिव्यक्ति है :'धरती के होंठ/ दहक रहे हैं/ बनकर पलाश/ देखो/ वहां दूर.../ दूधिया से कैसे/ रक्तिम हुआ जा रहा आकाश।' 'द्वैत' कविता में भी प्रतीकों का प्रयोग कमाल का है : 'नीला था/ कंधा/ आकाश का/ लाल था/ धरती पर/ मुंह पलाश का।' गोबिंद जी बेशक, जनता के दुःख-दर्द और ग़ैर-बरबारी से मुक्ति का हल लाल झंडे की वामपंथी राजनीति में ही देखते हैं। जनता का दर्द कवि को भीतर तक ऐसा मथता है कि 'शब्द की शिराएं भी/ सह नहीं पाती हमारा दर्द' और 'मैं हंसता ज़रूर हूं/ मगर दुःख के सुरूर में..../ हंसना अब दीवानगी में ढलता जा रहा है।'

इस संग्रह में तीन कविताएं तीन हिंदी कवियों पर हैं - शमशेर, त्रिलोचन और केदारनाथ सिंह। गोबिंद जी पर कुछ प्रभाव इन कवियों का भी रहा है। इन कविताओं में कवियों का एक काव्य-चित्र तो उभरा ही है, इनकी काव्य-संवेदना की मार्मिकता का भी स्पर्श है। गोबिंद जी ने इन कविताओं में जिस भाषा, लय और शिल्प का प्रयोग किया है, वह इन कवियों की भाषा, लय और शिल्प के बहुत क़रीब है। यह बात विशेष उल्लेखनीय है : 'शमशेर/ तुम धरती के आसमान/ शब्दों के.../ ध्वनि-रंगों के सहस्र दल में बसे/ तुम, आदिम अभिनव/ राग-विराग के/ पराग प्राण।' शमशेर की कविता इसी ढांचे की थीं। गोबिंद जी ने प्रकृति और प्रेम पर भी बहुत शानदार कविताएं लिखी हैं। कवि को 'इंतज़ार है, हर उस चीज़ का/ जो मुझे, मुझ में खोये/ मेरे अपने से मिला दे/ उस सपने से मिला दे/ जिसे देखने के लिए/ हसरत भारी असंख्य आंखें/ धरती-आसमान की अब तक तरसती हैं/ अब तक/ उन्हीं आंखों का/ आंखों में बसे उसी सपने का/ सपने में खोये उसी अपने का इंतज़ार है।'

कुछ कविताओं में जीवन की निजता का रंग बहुत गाढ़ा है। इनमें स्मृतियों के साथ उदासी भी है, अकेलापन भी और निरर्थकता-बोध भी : 'बेआवाज़ एक लहर/ छूकर चली गयी मेरा पांव सहसा/ मैं देर तक/ खड़ा रहा सागर के सम्मुख/ पर वह फिर नहीं लौटी/ तब से कितना जीवन बीता/ मैं खुद सांझ बन गया।' कुछ ऐसी ही संवेदना कवि ने 'कुछ लहरें अब भी ठहरी हैं' में भी व्यक्त की है : 'बीते हुए दिनों की नदी में/ कुछ लहरें/ अब तक ठहरी हैं/ तीसरे पहर की वही/ तंद्रिल-सी/ धूप लिये/ ... फिर सोचता हूं/ प्यार की इन नेमतों के लिए/ क्या किसी संग्रहालय में कोई जगह है ...कोई तो ऐसा घर हो जहां इन सपनों को सजायें।'। संग्रह में ऐसी कुछ और भी कविताएं हैं, 'संधान', 'अगर तुम आओ', 'उसी पल की गोद में', 'छायाओं की समाधियां', 'उसी फूल का इंतज़ार' आदि, जिनमें प्रेम की अनुभूति का एक सूफ़ियाना अंदाज़ है। कुछ कविताएं प्रकृति के सौंदर्य में जीवन को समेटे हुए हैं : 'फ़िज़ा में हर सू बिखर रही है चनार की पत्तियां/ पांवों में जैसे लिपट रही हैं चनार की पत्तियां/ हर गाम पर हर मोड़ पर कोई बेसबब मेरे साथ था।' इस संग्रह को पढ़ते हुए प्रसाद और निराला जैसे छायावादी कवि भी याद आते हैं और अज्ञेय, शमशेर और मुक्तिबोध जैसे आधुनिक कवि भी। गोबिंद जी की कविता का रेंज बहुत बड़ा है। जैसे दुःख है, तो दुःख के कई शेड्स हैं। उदासी, प्यार और स्मृतियां हैं, तो उनके भी कई शेड्स हैं। कविता में ये शेड्स कई बार रंगों में आये हैं, तो कई बार संगीत की लय में। गोबिंद जी की कविताएं पेंटिंग और संगीत के असर से सृजित हैं। इसलिए इनका आस्वाद वही ले सकता है जिन्हें संगीत और रंगों का कुछ ज्ञान हो। इस संग्रह में कहीं उदासी है, कहीं उत्साह। कहीं मायूसी है, कहीं उम्मीद। कहीं प्रेम है, कहीं अकेलापन। कहीं स्मृतियां हैं, कहीं कल्पना। कहीं चिंता है और कहीं संघर्ष।

हिंदी कविता में दिलीप शाक्य की पहचान युवा कवि के रूप में है। इनकी अब तक लिखी कविताओं के दो संग्रह आये हैं। पहला संग्रह, *कविता में उगी दूब* भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित है। दूसरा, *मैं और वह* नयी किताब प्रकाशन से। दूसरे संग्रह में छोटी-छोटी कुल तीस कविताएं हैं। पंद्रह कविताओं के बाद एक शीर्षक है, 'बुडापेस्ट' और फिर आगे की कविताएं हैं। अधिकांश कविताएं हंगरी प्रवास की हैं और हिंदी के साथ हंगेरियन भाषा में भी हैं। यह दिलचस्प है कि हंगरी में रहते हुए दिलीप जी ने अभिव्यक्ति के लिए कविता की विधा चुनीं। नहीं तो, हिंदी से जुड़े अधिकांश लोगों ने अपने विदेश-प्रवास में ज़्यादातर डायरियां और संस्मरण ही लिखे हैं। बेशक, इन कथेतर गद्य विधाओं का साहित्य भी हमारे बहुत काम का है। दिलीप शाक्य कवि हृदय व्यक्ति हैं, इसलिए इन्होंने कविताएं लिखीं। हंगेरियाई समाज, प्रकृति और शहर के अनेक बिंब इन्होंने काव्य के शिल्प में उतारे हैं। संग्रह की कविताओं में 'मैं' और 'वह' के बीच संवादों का एक अटूट सिलसिला है। 'मैं' पुरुष है, 'वह' स्त्री। इन संवादों में स्त्री और पुरुष के प्रेम की अदम्य, अकुंठ और अथाह अनुभूतियों और कल्पनाओं के अनेक बिंब और चित्र हैं। हिंदी कविता में प्रेम के अनुभूति की ऐसी बिंबात्मक अभिव्यक्ति विरल है : 'नवंबर की ऐसी ही रात थी जब ज़मीन से/ आसमान की ओर उठ रहे/ बोगनबेलिया के बैंगनी परदे पर उसकी हंसी/ सितारों सी बिखर गयी थी/ मैंने उससे कहा-देखो,/ चांद से कितना रू-ब-रू है तुम्हारा चेहरा/ उसने चांद से चिढ़कर कहा-/ तुम्हारा चांद तुम्हें ही मुबारक हो, मुझे तो/ सूर्य का इंतज़ार है।' इन कविताओं में संवाद करती स्त्री ने प्रेम करने के उस परंपरागत ढांचे में एक गहरी और चौड़ी दरार डाली है, जो स्त्री को तरह-तरह से अब तक छलता रहा है। वह अपने को उस ढांचे में फ़िट नहीं पाती, जहां प्रेमी पुरुष स्त्री को 'चांद' बनाकर अपने प्रेम से अक्सर छलता रहा है। वह मर्दों द्वारा गढ़े सौंदर्य के प्रतिमानों पर ख़ुद को तौलने के लिए अब तैयार नहीं है। उसे तो सूर्य का इंतज़ार है। उसे अंधेरे का

‘चांद’ बनना अब स्वीकार नहीं। वह ‘असूर्यम्पश्या’ नहीं होना चाहती। कविता के बीच इन संवादों में, प्रेम करती हुई स्त्री अपनी बात कहते हुए, अपने भावों को व्यक्त करते हुए, अपनी इच्छा-अनिच्छा ज़ाहिर करते हुए कहीं लड़खड़ाती नहीं है। वह पुरुष ‘मैं’ की हर बात का बहुत दिलचस्प और माकूल जबाब देती है। उसके जवाब में उसकी पहचान हमेशा शामिल होती है :‘मैं पूरब से आया वह पश्चिम से/ फिर हम दोनों एक बाज़ार में पहुंचे/ मैंने घोड़े की नाल ख़रीदी और उसने घोड़े के पंख/ यह युद्ध का समय नहीं- उसने मुझसे कहा/ यह शांति का भी समय नहीं- मैंने प्रतिवाद किया/ घोड़ा कहां मिलेगा- तब मैंने पूछा/ जहां प्रेम मिलेगा-तब उसने कहा/ क्या यह प्रेम का समय है?-/ मैंने उसकी आंखों के काजल का अर्थ समझते हुए पूछा/ हां, यह प्रेम का समय है-/ उसने अपनी आंखों के काजल का अर्थ समझाते हुए कहा।’ इन कविताओं में प्रेम करती हुई स्त्री, एक बिलकुल नयी स्त्री है। वह प्रेम में बराबर का व्यवहार करती है। प्रेम को अपना हक़ समझती है। प्रेम पाने के लिए पुरुष से वह याचना नहीं करती, गिड़गिड़ाती नहीं है, प्रेम करने का उसका अपना ढंग है : ‘मैंने उससे पूछा-तुम्हारे होंठ मेरी आंखों से/ ज़्यादा बातें करते हैं। क्या यह सच है?/ तुम्हारी आंखों का धोखा है/ मेरे होंठ तो ख़ामोश रहते हैं-उसने उत्तर दिया।/ मैंने कहा-एक्सप्लेन करो?/ उसने कहा-पोस्टपोन करो।... मेरे होंठ उसके कानों की गरम लवों के इतने नज़दीक थे/ कि उसने कहा- एक्सप्लेन करो?/ मैंने कहा-पोस्टपोन करो।’ इन कविताओं में प्रेम ही नहीं बल्कि सत्ता, पार्टी, नेता, लोकतंत्र और जनता भी है। कविता का ‘मैं’ जब ‘नेताजी के भाषण में पार्टी की टोपी, पार्टी का माइक और शायद पार्टी का ही मुंह देखकर पूछता है, ‘नेता जी का क्या है?/ कुछ नहीं, सब जनता का है/ बालों से हेयरपिन निकालते हुए उसने कहा/ मैंने फिर पूछा-पार्टी का क्या है फिर?/ ‘पार्टीशन’ शब्द पर ज़ोर देते हुए उसने/ प्रतिप्रश्न किया-‘हिंद स्वराज’ नहीं पढ़ा क्या?/ हां, पढ़ा तो है-/ तो फिर जनता से कहो कि उसे/ किसी वकील की ज़रूरत नहीं-/ लोकतंत्र की हर अदालत को ख़ारिज करते हुए उसने कहा।’ दरअसल, प्रेम में पड़े हुए भी हम सिर्फ़ प्रेम कहां करते हैं, प्रेम के साथ आसपास की ज़िंदगी भी तो जीते रहते हैं। बल्कि प्रेम करते हुए राजनीति को ज़्यादा तीखे ढंग से समझते हैं। कविता में जनता के अधिकारों के प्रति कवि का यह अटूट विश्वास हमें आश्वस्त करता है। किसी कवि की प्रेम कविता में किसी प्रेमिका ने शायद ही अपने प्रेमी से संवाद करते हुए जनता का इतना स्पष्ट पक्ष लिया हो।

दिलीप शाक्य के इस संग्रह की कविताएं कहीं-कहीं बहुत एबसर्ड हैं। हो सकता है यह कविता में नया प्रयोग हो : ‘नदी नीली थी और लहरों का रंग ब्लान्ड था/ धूप से चमकते एक तट पर बैठी वह/ स्ट्राबेरी खा रही थी/ कानों से ईयर फ़ोन निकालते हुए/ मैंने कहा-हैलो, आइ एम मनु फ्रॉम कामायनी/ धूप का चश्मा निकालते हुए उसने/ मेरी आंखों में देखा-/ इफ़ यू आर मनु, व्हेयर इज़ श्रद्धा?/ मैंने आश्चर्य से पूछा-हैव यू रेड कामायनी/ उसने कहा-/ ऑफ़ कोर्स! आइ एम ऑल्सो फ्रॉम कामायनी/ माई नेम इज़ इड़ा’। इस संवाद में स्त्री का अपने को इड़ा के रूप में प्रस्तुत करना संभवतः इस बात का प्रतीक है कि स्त्रियां अब इड़ा के पक्ष में हैं। कवि ने गंभीर वैचारिक विमर्शों को भी बहुत सरल, सहज और रोचक ढंग से कविता में अभिव्यक्त किया है। प्रेम करते हुए मनुष्य असंभव को भी साध लेने की आकांक्षा और उम्मीद करता है : ‘चेन ब्रिज पर टहलते हुए मैंने उससे कहा-/ क्यों न कभी पीसा की मीनार से ताजमहल देखें?/ उसने चुहल की- हां, संभव है अगर तुम/ बर्लिन की दीवार को/ टेलिस्कोप में बदल सको/ मैंने भी चुहल की-/बर्लिन क्या दुनिया की सारी दीवारों को / टेलिस्कोप में बदल दूं/अगर तुम मेरा माइक्रोस्कोप बयानो।’ कवि की इस चुहलबाज़ी में ही यह सत्य सामने आता है कि ‘दीवारें’ ही हैं जो हमारे चारों ओर खड़ी कर दी गयी हैं जिनमें कि हम क़ैद हैं। कवि इन दीवारों को टेलिस्कोप में बदल देना चाहता है। एक दूसरी कविता में ‘बुदापैश्त नॉयर देखने के बाद पुश्किन मोजी से बाहर निकलते हुए/ उसने पूछा-/क्या तुम बेला तार को जानते हो?/ उतना नहीं जितना तारकोव्स्की को-/बारिश में रेनकोट पहनते हुए मैंने कहा।/ उसने दूसरा प्रश्न किया-/ सिनेमा में कम्युनिज़्म को जिंदा रहना चाहिए/ या डेमोक्रेसी को ?/मैंने भी दूसरा उत्तर दिया-/ क्या फरक पड़ता है? सिनेमा अंततः/ पूंजीवाद की कला है’। कवि की नज़र आज की दुनिया के महत्वपूर्ण मसलों पर भी है। इस संग्रह की कविताओं में दर्शन से लेकर समाज, संस्कृति, राजनीति और निजी जीवन की उदासी तक अनेक विषय हैं। इन कविताओं में ऐसे स्थलों, लोगों और वस्तुओं के नाम आये हैं जो ‘बुडापेस्ट’ से संबंधित है। कही-कहीं हंगेरियाई भाषा के शब्द भी आ गये हैं। जैसे: ‘योकुलसारलोन’ के विशाल ग्लेसियार, ‘सभ्यता के टेरर हाउस’, ‘उदास रविवार’, ‘बालातोन का पानी’, ‘रूइन-पब’, ‘चेन-ब्रिज’, ‘डेन्युब’, ‘योजेफ़ अतिल्ला’, ‘नोर्माफा’, ‘मारगित सिगेत’, ‘सियास्तोक’, नैम एरत्युक’ आदि शब्द ऐसे हैं जो अबूझ से लगते हैं, लेकिन कविता के बोध ग्रहण में कोई बाधा खड़ी नहीं करते हैं। इन कविताओं से गुज़रना एक दिलचस्प अनुभव है। कविता में बिंब इतने सुंदर हैं कि बार-बार पढ़ने का मन होता है। भाषा में ग़ज़ब की ताज़गी है। दिलीप जी शब्दों को चुनने में बहुत संजीदा हैं। शब्द व्यंजना से भरे हैं। इसका उदाहरण पूरा संग्रह ही है।

मो. 9911364615

पुस्तक संदर्भ

1. *अभी कुछ आग है बाक़ी* : पी.एम.एस. ग्रेवाल, प्रोग्रेसिव प्रिंटर्स, दिल्ली, 2019

2. *यह तीसरा पहर था* : गोबिंद प्रसाद, अनुज्ञा, नयी दिल्ली, 2018

3. *मैं और वह* : दिलीप शाक्य, नयी किताब प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019

प्रत्यंचा, टिकटशुदा रुक़्क़ा और तिलोका वायकान

राकेश तिवारी

पहली पढ़त में किसी औपन्यासिक कृति को लेकर कोई सरल निष्कर्ष निकालना जल्दबाज़ी ही समझी जानी चाहिए। रचना पाठकों के बीच पहुंच कर केवल एक बार में पूर्ण नहीं होती, बल्कि उसे समय की कसौटी पर कसे जाने की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। फिर भी यह कहना होगा कि *'प्रत्यंचा' (संजीव) और 'टिकटशुदा रुक़्क़ा' (नवीन जोशी) उपन्यास के पारंपरिक स्वरूप के साथ और 'तिलोका वायकान' (नवल शुक्ल) उपन्यास की सीमा के अतिक्रमण के बावजूद ऐसी कृतियां हैं जिन पर निश्चित ही बात होनी चाहिए। ये तीनों अगल-अलग प्रकृति के उपन्यास हैं, किंतु तीनों के सरोकार समान हैं। अपने समय पर तीनों उपन्यासकारों की पैनी नज़र है और समय के क्राइसिस को पकड़ने, सामाजिक विसंगतियों, अंतर्विरोधों को उभारने में वे काफ़ी हद तक सफल हुए हैं। तीनों उपन्यासों में एक कॉमन बात है— दलितों और आदिवासियों का जीवन, उनके हालात, संघर्ष और अंतर्द्वंद्व। दो कृतियों के केंद्र में दलित हैं तो एक के केंद्र में आदिवासी। असल में दलितों का जीवन व हालात और उनके प्रति समाज के दूसरे वर्गों का रवैया केवल इन कृतियों के केंद्र में ही मौजूद नहीं है बल्कि धमनियों की तरह पूरे उपन्यास में व्याप्त है। दृष्टिकोण की समानता के बावजूद, प्रत्यंचा और टिकटशुदा रुक़्क़ा में इन समस्याओं को 'डील' करने का तरीक़ा, उनसे उठे सवालों से टकराने की प्रविधि परंपरागत है, जबकि तिलोका वायकान में, चूंकि उसमें विभिन्न विधाओं की आवाजाही है, सामाजिक प्रश्नों से जिरह कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष है।*

ग़ुलामी से छोटी नहीं यह त्रासदी

संजीव का उपन्यास *प्रत्यंचा* छत्रपति शाहूजी महाराज की ऐसी जीवन गाथा है जिसमें एक राजा को हम जातिप्रथा के ख़िलाफ़ अलख जगाने वाले तेजस्वी महानायक के रूप में खड़ा होते देखते हैं। सामूहिक त्रासदी को व्यक्तिगत लाभ में बदल लेने यानी 'आपदा में अवसर' तलाशने वाले इस दौर में यह गाथा उस राजा के प्रति नतमस्तक कर देने वाली है जिसने ग़रीब, दबे-कुचले और जातीय अपमान की मर्मांतक पीड़ा झेल रहे लोगों की सामूहिक मुक्ति के प्रयत्न में ख़ुद का जीवन झोंक दिया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध (लगभग शुरुआत) की यह कथा शाहू जी की केवल जीवन गाथा नहीं है, बल्कि हमारे समकाल को समझने और उसके तुलनात्मक अध्ययन के सूत्र भी हमें पकड़ाती जाती है। यों तो ऐतिहासिक चरित्र लेखक को एक सीमा में बांध देते हैं, इसके बावजूद यह लेखकीय कौशल है कि वह ऐतिहासिक आख्यान को सामयिक और प्रासंगिक बना दे। यह उपन्यास ऐसा ही एक उदाहरण है।

शुरुआत में पाठक को राजा के साथ आम नायक या जननायक जैसा सहज संभव तादात्म बैठाने में दिक़्क़त अवश्य पेश आती है। राजा से कैसी सहानुभूति और कैसा जुड़ाव? वह भी एक अंग्रेज़परस्त राजा से। फिर यह प्रश्न मन में उठता है कि कहीं जातीय विमर्श की एक सोची-समझी युक्ति का इस्तेमाल करते हुए उपन्यास को एक तय सांचे में तो नहीं ढाला गया है? यह सवाल इसलिए उठता है क्योंकि हिंदी पट्टी में जाति-उन्मूलन के शाहू जी महराज के प्रयासों के बारे में बहुत ज़्यादा जानकारी नहीं है। इसके अलावा उपन्यास ब्राह्मणवाद के प्रति अतिरिक्त आक्रोश की अभिव्यक्ति भी लगता है। लेकिन इस आक्रोश को उस वक़्त किसी भी तर्क से अस्वाभाविक नहीं ठहराया जा सकता जब ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक में ब्राह्मणों की, ख़ासतौर पर पंडा-पुरोहितों की कारगुज़ारियां और दांव-पेंच पाठक के सामने आते हैं। कथा के आगे बढ़ने के साथ ही सारी शंकाएं निर्मूल साबित होने लगती हैं। हेनरी फ़ील्डिंग ने अपने उपन्यास, *जोनाथन वाइल्ड* में सत्य को किस रूप में प्रकट किया, यह बताते हुए रैल्फ़ फ़ॉक्स ने एक लेख में लिखा है कि 'सत्य की यह अभिव्यक्ति एक ऐसे भयानक और निर्मम आक्रोश के साथ उसने की, जो अमर है, क्योंकि वह मानवीय जीवन के अधोपतन के प्रति मानवीय आक्रोश का मूर्त रूप है।'

उपन्यास के केंद्र में, आज़ादी की लड़ाई के छिटपुट ब्योरों के साथ चली एक अहम लड़ाई है जातीय भेदभाव मिटाना। इस लड़ाई के नायक शाहू जी कहते हैं 'देश आज नहीं तो कल आज़ाद हो ही जायेगा, मगर जातीय भेदभाव और पाखंडों से इसे कब मुक्ति मिलेगी ?' ग़ुलामी की त्रासदी से भी बड़ी जातीय भेदभाव की त्रासदी है, ऐसा शाहू जी का मानना था और यह स्थापित करना या इसके पक्ष में पाठक की राय बनाना किसी उपन्यासकार के लिए भी एक बड़ी चुनौती है। शाहू जी की अंग्रेज़परस्ती खटकती ज़रूर है, पर वह एक ऐसा तथ्य है जिसका उल्लेख करते हुए लेखक ने आंख नहीं चुरायी है। कई मौक़ों पर शाहू जी अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ विद्रोह कर रहे व्यक्तियों और समूहों की छिटपुट तौर पर ही सही, गोपनीय ढंग से आर्थिक सहायता करते हुए भी दिखायी देते हैं। लेकिन शाहू जी का एक बड़ा मक़सद जातीय भेदभावों से मुक्ति का प्रयास था, इसलिए उनकी यह गाथा उसी के इर्दगिर्द चलती है। वे एक तरफ़ इस बुराई के ख़िलाफ़ सटीक तर्क प्रस्तुत करते हैं, तो दूसरी ओर उसे मिटाने के लिए अपनी कोशिशों को

अमली जामा भी पहनाते हैं। कहते हैं, 'दुनिया में कहीं भी कमज़ोर इंसानों को इतनी बेहयाई के साथ असहाय बनाये रखने की वैसी साज़िश नहीं रची गयी, जैसी कि अपने देश में सनातनियों ने रची।...ख़ुद को कहते हैं रामभक्त और राम के विरुद्ध आचरण। देवताओं के कंधे पर बंदूक रख कर दागते हैं ये पाखंडी।'

जातिभेद आज जिस तरह फिर से उभार पर है, दलितों के साथ जो सलूक हो रहा है, उसके मद्देनज़र शाहू जी की यह कथा अत्यंत प्रासंगिक है। राजा होते हुए भी जातीय दंश को स्वयं शाहू जी ने झेला, तो उस दौर में आमजन की स्थिति क्या होगी, इसे समझा जा सकता है। कोल्हापुर के राजा छत्रपति शाहू जी महाराज ने इसे केवल झेला ही नहीं, बल्कि इसके ख़िलाफ़ खुली जंग भी छेड़ी। इतिहास में नायक का दर्जा केवल राजा होने से नहीं मिलता। लेकिन यहां यह भी कहना होगा कि शाहू जी जहां नायक के रूप में उभरते हैं, वहीं उपन्यास के चरित्र के रूप में वे एक सामान्य मनुष्य की तरह नहीं उभरते। यानी उनके दुख, संशय, द्वंद्व और अपने आप से टकराहटों का ज़्यादातर अनुपस्थित-सा रहना खटकता है।

कहानी 1894 में शाहूजी के राजतिलक से शुरू होती है। छत्रपति शिवाजी के 220 वर्ष बाद उनके सिंहासन पर शाहूजी विराजमान हो रहे हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ 1812 में हुई संधि के बाद कोल्हापुर स्वतंत्र राज्य न रह कर रियासत बन चुका है। अपने पहले ही आदेश में शाहू कोई भी खाद्य सामग्री पैसा देकर ख़रीदने का स्पष्ट निर्देश देते हैं। अपने गुरु फ्रेज़र से बातचीत में यह चिंता जतायी जा रही है कि प्रशासनिक मशीनरी में कितने अफ़सर ब्राह्मण हैं और खानगी विभाग में कितने। यह भी हिसाब लगाया जाता है कि शिक्षितों में 80 प्रतिशत ब्राह्मण हैं। व्यापार और कारोबार में भी ज़्यादातर ब्राह्मणों का कब्ज़ा है। या फिर यूरोपियन्स और पारसी हैं। पुणे के अभिनंदन समारोह में कहते हैं, 'मेरी नज़र में हिंदू ही नहीं, मुसलमान और अन्य सांप्रदायिक इकाइयां भी हैं। सबमें परस्पर स्नेह और सौहार्द्र होना चाहिए।' इस बात से सबके कान खड़े हो जाते हैं। क्या हिंदुत्व के आधार पर नहीं चलेंगे शाहू ? पर शाहू जी तो देवस्थानों, मठों की संपत्ति दरबार में शामिल करने का हुक्म जारी कर अपने तेवर का परिचय दे चुके हैं। कल्याणकारी योजनाओं के लिए पैसा चाहिए और वे जानते हैं कि उसका यही एक उपाय है। अपनी रियासत में ग़ैरब्राह्मणों की नियुक्तियां करते हैं, तो दीवान तारापोरवाला शाहूजी को आगाह करते हैं कि इससे अंग्रेज़ और ब्राह्मण ख़िलाफ़ हो जायेंगे। पर शाहू नहीं सुनते। एक अंग्रेज़ अफ़सर तक को सार्वजनिक निर्माण विभाग की नौकरी से बाहर कर देते हैं।

विकास का उनका मॉडल अत्याधुनिक और व्यावहारिक है। पन्हालगढ़ की ढलानों में चाय की खेती का विचार मन में आया तो चाय के साथ रबर की खेती भी शुरू हो गयी। यूरोप की तरह नयी-नयी क़िस्म की खेती का विचार। फ़िज़ूलख़र्ची पर रोक का फ़रमान जारी करते हैं। आतंकित कर या धमका कर ज़बरन लगान वसूली के ख़िलाफ़ सख़्त रुख़ दिखाते हैं। चुनौतियां केवल बाहरी नहीं, अंदर से भी खड़ी हो रही हैं। ख़ुद दीवान तारापोरवाला अफ़वाह फैला रहे हैं। ब्राह्मणों ने शाहू जी पर ब्राह्मणविरोधी होने का ठप्पा लगा दिया है। लेकिन शाहू का अभियान जारी है। जनता के बीच जाकर उसकी तकलीफ़ें देखने का फ़ैसला करते हैं। नरसोवाबाड़ी (शिरोल) में कुष्ठ रोगियों को देख कर उनके इलाज की व्यवस्था के बारे में सोचते हैं। अकाल में ग़रीबों का और किसानों का ही नहीं, पशुओं तक का ध्यान रखते हैं। प्लेग फैल गया तो लगान की वसूली स्थगित कर दी। लगान वसूली स्थगित होने से युवा गवर्नर रे की भृकुटियां तन गयीं। उसने अंततः षडयंत्र रचा। ऐसे कई बवंडर आते हैं। ब्राह्मणवादी ताक़तों का नेतृत्व करने वाले बाल गंगाधर तिलक से लगातार खटपट चल रही है। हालांकि शाहू जी को उनकी देशभक्ति पर संदेह नहीं है, लेकिन चूंकि वे ग़ैरब्राह्मणों की बड़ी आबादी के अधिकारों की लड़ाई की कमान संभाले हुए हैं तो तिलक से मुठभेड़ करते रहते हैं। एक मुलाक़ात के दौरान तिलक से कहते हैं, 'आपका राष्ट्रप्रेम प्रणम्य है लोकमान्य, अलबत्ता सिर्फ़ राष्ट्र, राष्ट्र का जन नहीं। जन वहां ब्राह्मण है, शूद्र है।' उसके बाद पूछते हैं, 'राष्ट्र का जन राष्ट्र से अलग होता है क्या?' जन की चिंता के बिना राष्ट्र की चिंता मौजूदा दौर का कितना बड़ा छद्म है, यह लेखक ने शाहूजी और तिलक की बातचीत से रेखांकित करने का प्रयास किया है।

सन् 1899 का वाक़या। कार्तिक पूर्णिमा का स्नान है। पुरोहित नारायण भट स्नान का मंत्र पढ़ रहे हैं। शाहू के विद्वान मित्र राजाराम शास्त्री पंडित से पूछते हैं कि यह वेदोक्त स्नानमंत्र है? पंडित जी बताते हैं कि पुराणोक्त है। वेदोक्त मंत्र क्षत्रियों के लिए है, शूद्रों के लिए नहीं। शाहू जी को भारी ठेस लगती है। मर्मांतक पीड़ा, कि वे क्षत्रिय नहीं शूद्र हैं! छत्रपतित्व और राजत्व के बावजूद शूद्र। और यह तय करने वाला उन्हीं का अधीनस्थ एक वेश्यागामी ब्राह्मण। इससे पहले (दो सौ साल से ज़्यादा पहले) महाराष्ट्र के ब्राह्मणों ने शिवाजी को क्षत्रिय नहीं माना था और उनका राजतिलक करने से इनकार कर दिया था। शाहू जी महराज के साथ जो हुआ, वह सतारा में प्रताप सिंह के साथ बहुत पहले हो चुका था।

शाहू को भारी चोट लगी है। शूद्र होने के उलाहने को भूल नहीं पाते। शाहू जी एक शासक हैं। उनकी तुलना में समाज के सबसे निचले पायदान पर रह रहे दबे-कुचले लोगों की पीड़ा कितनी गहरी होगी, जिनकी छाया भी सवर्णों पर नहीं पड़नी चाहिए और जिन्हें अपने पीछे झाड़ू बांध कर चलना होता है। उपन्यास में इसका उल्लेख करते हुए लेखक ने पाठकों की चेतना और विवेक को झकझोरा है। ज्योतिबा के पागल चेले की ओर से 'गूलर के कीड़ों की तरह अपने देश को ही सारी दुनिया समझने वालों का' उल्लेख या ऐसे तमाम दृष्टांतों से लेखक ने हमारे इस दौर की नब्ज़ पर भी लगातार हाथ रखा है। ज्योतिबा का वही चेला बताता है कि 'इन्होंने (ब्राह्मणों ने) भगवान को भी जाति और जनेऊ दे दिया, हनुमान जी को भी...।' इस कथन को हनुमान जी की जाति बताये जाने के इधर के वर्षों के प्रयासों के आलोक में देख सकते हैं। यही नहीं, सनातनी ब्राह्मणवादी शक्तियों द्वारा एक सत्यशोधक की हत्या का प्रसंग भी उल्लेखनीय है, जिसे गांधी से लेकर नरेंद्र दाभोलकर, पानसरे, कलबुर्गी और गौरी लंकेश की हत्या के संदर्भ में देखा-समझा जा सकता है और ख़ुद लेखक ने फ़ुटनोट में इसका उल्लेख किया है।

शाहू के बचपन का एक घाव हरा हो गया है, जब उन्हें उस जगह जाने से रोक दिया गया जहां भोजन बन रहा था। इसकी प्रतिक्रिया क्या हो

सकती है, इसका अनुमान शाहू जी की प्रतिक्रिया से लगाया जा सकता है। वे सोचते हैं, 'जो ब्राह्मण समाज बिल्ली से अपवित्र नहीं होता, मुझसे हो जाता है, वह मेरा समाज कैसे हो सकता है?' ब्राह्मणों की संगठित और शक्तिशाली सत्ता के आगे अकेले खड़े युवा नरेश शाहू जी उम्मीद करते हैं कि वेदोक्त प्रकरण में तिलक सत्य का पक्ष लेते हुए उन्हीं का समर्थन करेंगे। पर तिलक ने आंखें मूंद कर अपनी जाति का समर्थन और उनका विरोध किया। इस प्रसंग में उपन्यास में आया यह कथन ध्यान देने योग्य है कि 'यह तर्क का नहीं आस्था का युद्ध था और आस्था आधारित होती है आग्रहों और कल्पना विलासी मिथकों पर।' आग्रहों और कल्पना विलासी मिथकों पर आधारित आस्था से युद्ध आज भी जारी है। यही शाहू जी की जीवन-गाथा की प्रासंगिकता है।

अंग्रेज़ों ने शिक्षा पर ध्यान दिया, भले ही उच्च शिक्षा उनकी प्राथमिकता हो। इसके विपरीत ज्योतिबा फुले ने अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा पर ज़ोर दिया। शाहू जी ने अपनी रियासत का दौरा किया तो हक़ीक़त से सामना हुआ। स्कूल ही नहीं हैं तो शिक्षा कहां से मिलेगी। ब्राह्मणों को छोड़ कर ज़्यादातर लोग अशिक्षित हैं। फिर यह भी पता चला कि कुनबियों और कमेरी जातियों, अस्पृश्यों की स्कूल में शिक्षक ही खिल्ली उड़ाते हैं। तब शुरू होता है शाहू का प्राथमिक स्तर पर अनिवार्य शिक्षा का अभियान। ग़ैर-ब्रह्मणों में पढ़ने के इच्छुक और योग्य छात्रों को सहायता देने का अभियान। स्कूल और छात्रावास खोलने का अभियान। छांट-छांट कर और खोज-खोज कर ला रहे हैं ऐसे युवकों को। दलितों, और विशेष रूप से 'गुनहगार जमात क़ायदा एक्ट' के तहत लायी गयी घुमंतू जातियों के प्रति एक राजा की सवा सौ साल पुरानी सोच कितनी प्रगतिशील और आधुनिक है, यह जान कर हैरत होती है। जब इन घुमंतू जातियों को भेड़-बकरियों, रेहड़ों की तरह घेर कर अनुशासनात्मक कार्रवाइयां चल रही होती हैं, उन्हें थानों में दिन में तीन-चार बार हाज़िरी देनी पड़ती है तो उसी दौर में एक दिन महारानी पूछती हैं, 'सुना, अब कोल्टा, पारधी लोग दीवान-दरोग़ा बनेंगे?' राजा उल्टा प्रश्न करते हैं— 'क्या नहीं बनना चाहिए?' ये सब एक राजा की अद्भुत चिंताएं हैं। यही नहीं, स्त्रियों के साथ होने वाली हिंसा की घटनाओं के मद्देनज़र घरेलू हिंसा के क़ायदे की नींव पड़ी, स्त्री उत्तराधिकार क़ानून बनाया। नौकरियों में पचास प्रतिशत रिक्तियां पिछड़े वर्ग से भरे जाने का निर्देश दिया। बाद में जातिगत प्रतिनिधित्व उनका अगला क़दम था। आरक्षण के निर्देश से ब्राह्मण और उनके अख़बार बिदक गये। अपने स्तर पर अपनी रियासत में वे जो कर रहे थे, वह तो था ही, महाराष्ट्र के दूसरे इलाक़ों पर भी नज़र थी। युवा आंबेडकर को अख़बार निकालने के लिए सहयोग दिया, दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी और रमाबाई पंडित को सहयोग दिया।

1917 की बात है। चारों तरफ़ होमरूल का शोर था। 27 दिसंबर को खामगांव में शाहू कहते हैं, 'होमरूल प्राप्त करने के लिए ज़रूरी है आप जाति-प्रथा की बुराइयों से निजात पायें।' महाराज रानी को बताते हैं कि बौद्ध, सिख, जैन, लिंगायत पहले हिंदू ही थे, ब्राह्मणों के अपमान के चलते ही अलग हुए। तिलक का अपना स्वराज है तो शाहू का अपना। शाहू योद्धा हैं, पर ऐसे जो युद्ध के मैदान की जगह सारा पराक्रम जातिवाद से लड़ाई के मैदान में दिखा रहे हैं। नासिक के मराठा बोर्डिंग हाउस की आधारशिला रखे जाने के अवसर पर व्यंग्य से कहते हैं, 'लोगों को शिक्षा नहीं चाहिए। उन्हें विघ्नों से मुक्ति चाहिए...।' यह पाखंडों पर उनकी लगातार चोट करते रहने की कोशिश है। देशप्रेम और विशेष रूप से तिलकीय देशप्रेम पर कई तरह से सवाल उठाये गये हैं। मसलन, यह कैसा राष्ट्रवाद और कैसा देशप्रेम है जिसमें तिलक और सनातनवादी तो हैं पर लिंगायत और अन्य नहीं। पता नहीं यह असहिष्णुता और बर्बर उन्माद देश को कहां ले जायेगा? यह उन्माद मौजूदा दौर की सबसे बड़ी चिंता है, जिसे इतिहास के आइने में समझने और समझाने की कोशिश लेखक ने की है। लेकिन यह कहना होगा कि उपन्यास को प्रामाणिक बनाने के लिए तथ्यों की भरमार कथा को कई जगह बाधित करती है।

बहरहाल, इस दौर में सामाजिक ग़ैरबराबरी, विकास के नाम पर हो रही धोखाधड़ी, पूंजीपतियों के हाथों सरकारी संपत्तियों व सेवा क्षेत्र को बेचे जाने तथा शिक्षा, स्वास्थ्य और रोज़गार को प्राथमिकता सूची से हटाने के जो प्रयास हो रहे हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए एक शासक के कामों को देखना बड़े महत्व का और प्रासंगिक है। यह उपन्यास ख़ास तौर से मौजूदा दौर की उस जातीय समस्या को देखने की दृष्टि भी देता है, जिसकी जड़ें अतीत में बहुत गहरी हैं और जो ग़ुलामी से बड़ी नहीं तो उससे छोटी त्रासदी भी नहीं है। इस दौर में, जब इतिहास को झूठ में बदलने के प्रयास तेज़ हुए हैं और असल नायकों के गुम होने या उनके योगदान को धूमिल कर दिये जाने का संकट खड़ा हुआ है, ऐसे में भी छत्रपति शाहूजी महराज पर इस उपन्यास का आना एक ज़रूरी पहल है।

हमारे समय का स्याह-सफ़ेद

नवीन जोशी का उपन्यास *टिकटशुदा रुक्क़ा* अपने समय के कुछ ऐसे बड़े सवालों से मुठभेड़ करता है, जो उत्तराखंड के एक दलित परिवार के शोषण, अपमान और दलित युवक के संघर्ष की दहला देने वाली कथा से उठते हैं। ये पहाड़ के जीवन की सामाजिक विसंगतियों से उपजे सवाल तो हैं ही, उसके बहाने उठे कई ऐसे प्रश्न भी हैं जिनका विस्तृत परिप्रेक्ष्य है। नवीन जी राजनीतिक रूप से अत्यंत सजग लेखक और पत्रकार हैं। अपनी पक्षधरता के मामले में लेखक की दृष्टि निश्चय ही साफ़ होनी चाहिए। पर उसके विचारों को कथा-स्थितियों और चरित्रों के अंदर उसी तरह गुंथा हुआ और व्याप्त होना चाहिए जैसे हमारे भीतर हमारे आसपास की हवा। 'हिंदी कहानी की इक्कीसवीं सदी' (संजीव कुमार) की भूमिका में भाववादी और यथार्थवादी रचनाकारों के बारे में मार्क्स के हवाले से जो संदर्भ आया है उसमें कहा गया गया है, 'वह (यथार्थवादी रचनाकार) चरित्रों और कथा स्थितियों को स्वाभाविकता और विश्वसनीयता की शर्तों पर स्वतंत्र रूप से विकसित होने देता है और कृति उसकी निजी मान्यताओं, पूर्वाग्रहों आदि का अतिक्रमण कर वास्तविकता को जीवंत रूप में आयत्त कर पाती है।' इस सिलसिले में आगे कहा गया है कि 'बालज़ाक इसीलिए मार्क्स के प्रिय उपन्यासकार

थे— उनकी पूरी सहानुभूति ध्वस्त होते सामंतवाद के प्रति थी, लेकिन उनके उपन्यास उनकी वर्गीय सहानुभूति और राजनीतिक पूर्वग्रहों के ख़िलाफ़ जाते थे।' नवीन जोशी लेखक के रूप में कथा स्थितियों की स्वाभाविकता का भरसक निर्वाह करते हैं। यह उनके पहले उपन्यास, *दावानल* में भी, जो मूलतः जनविरोधी वन नीतियों के ख़िलाफ़ स्वतःस्फूर्त आंदोलन की कथा है, नज़र आता है। लेकिन उनके अंदर का अति सजग पत्रकार और एक्टिविस्ट कभी-कभी इमोशनल होने की हद तक अपनी मान्यताओं पर डटा हुआ लगता है। लेखक से कभी-कभार उसकी कलम भी आज़ादी की मांग करती है। ऐसे में कहानी को उसके पात्र तय डेस्टिनेशन से इधर-उधर भी ले चलते हैं और लेखक को उन्हें वह आज़ादी देनी पड़ती है। इस संदर्भ में रैल्फ़ फ़ॉक्स के कथन को उद्धत करना चाहूंगा, वे (उपन्यास और लोकजीवन में) कहते हैं, 'निश्चय ही पात्रों के अपने विचार हो सकते हैं, और होने चाहिए भी, किंतु शर्त यह है कि वे पात्रों के अपने ही विचार हों, लेखक के विचार नहीं।' बहरहाल, यह कहना होगा कि *टिकटशुदा रुक़्क़ा* उनके पहले उपन्यास, *दावानल* की तरह ही पठनीय उपन्यास है, बल्कि कुछ मामलों में उससे अधिक परिपक्व है।

उपन्यास के बारे में प्रसिद्ध कथाकार शेखर जोशी का यह कथन शब्दशः सही है कि 'प्रस्तुत उपन्यास पहाड़ के जीवन की सामाजिक विसंगतियों और प्रतिरोधी चेतना को 'नये आयाम के साथ रेखांकित करता है।' नया आयाम यह भी है कि आज जहां दलितों के बीच से नया अभिजात वर्ग उभर रहा है, वहीं दूसरी ओर शेष दलितों की स्थिति जस की तस बनी हुई है। वहां सामाजिक चेतना अब भी नहीं पहुंची। उपन्यास में दीवान राम एक बंधुआ हलवाहे की संतान है, जो उच्च शिक्षा पाकर कारपोरेट दुनिया में क़दम रखता है। एक बहुराष्ट्रीय कंपनी एस.जी का डी.जी.एम (इनोवेशन) है। एडल्ट डायपर पर प्रजेंटेशन देते हुए वह सनक जाता है। यह सनकना उसका अंतरद्वंद है जो पहाड़ के संघर्षपूर्ण जीवन की स्मृतियों और वर्तमान की सुविधाभोगी जीवन शैली से उपजा है। सनकने की हालत में वह जो बड़बड़ा रहा है, वह उत्तराखंड में इष्ट देवता को प्रसन्न करने के लिए लगाई जाने वाली जागर और उस जागर में सृष्टि की उत्पत्ति का बखान है। बड़बड़ाते हुए वह ख़ुद से प्रश्न करता है कि इस कथा में तो यह नहीं बताया गया है कि पहला मानुष कौन था — ब्राह्मण, क्षत्रिय या शिल्पकार (दलित) ? जातिवाद के संदर्भ में यह मूलभूत प्रश्नों में से एक है और संयोग से 'प्रत्यंचा' की तरह 'टिकटशुदा रुक़्क़ा' की केंद्रीय चिंता में भी ऐसे ही प्रश्न हैं।

दीवान राम अस्पताल में है। 'दिवानी ओ मेरा दिवानी' का एक कातर स्वर नीम बेहोशी की हालत में भी लगातार दीवान का पीछा करता है। डॉक्टर एक तरह का हिस्टीरिया का दौरा बता रहे हैं। कंपनी को अपनी एडल्ट डायपर की महत्वाकांक्षी परियोजना की चिंता है, जिसे दीवान देख रहा है। पीछा कर रही आवाज़ दीवान की मां की है जिसे बचपन में कुष्ठ रोग हो गया था। इसकी भनक लगते ही गांव वाले यानी सवर्ण मालिक लोग दीवान के पिता दौलत राम से कहते हैं अगर उसने सरुली को भगाया नहीं तो वे ख़ुद उसे गांव से खदेड़ देंगे। यह उपन्यास का सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग है। मालिकों के आगे दौलत राम की सारी मिन्नतें व्यर्थ हो रही हैं। सरुली ख़ुद सामने आकर गांव वालों से विनती करती है कि वे गोद के बच्चे (दीवान) को पाल लेने दें, फिर वह ख़ुद चली जायेगी। पर कोई मानता नहीं। अंततः एक साल के बच्चे की ज़िम्मेदारी अपनी दस वर्षीय बेटी को सौंप कर वह गांव की सीमा से बाहर एक खंडहर कोठरी में चले जाने को मजबूर कर दी जाती है। जब दीवान छह साल का हुआ और बहिन की शादी तय हो गयी तो एक दिन बहिन ने अपने मन का बोझ कम करने के लिए बता दिया कि किस तरह बड़ा भाई सुबह-शाम खंडहर की कोठरी के दरवाज़े से सरका कर इजा (मां) को रोटी दे आता था। किस तरह एक रात इजा ने उससे मिलने की ज़िद की और किस तरह गांव के ही धरणीधर की पत्नी उसे और उसकी बहन को साथ ले जा कर इजा से मिलवा लाई। उस दिन किस तरह इजा ने एक बार बच्चे तो अपना दूध पिलाने की ज़िद की और किस तरह बीमारी की भयावहता के बारे में विचार कर धरणीधर की पत्नी ने सरुली को एक आख़िरी बार बच्चे को गोद में देने से इनकार कर दिया। किस तरह मां 'मेरा दिवानी' कह कर तड़पती और पुकारती रह गयी। किस तरह वे रात के अँधेरे में सबसे छुपते-छुपाते घर लौटे और किस तरह मां ने उसी रात ख़ुद को फांसी लगा ली।

कुष्ठ रोग को एक समय लाइलाज बीमारी माना जाता था और कुष्ठ रोगियों का इसी तरह सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता था। इलाज के बिना अंत में इसी तरह उनकी दर्दनाक मृत्यु हो जाती थी। बहरहाल, बचपन से ही शुरू हो जाती है बालक दीवान की संघर्ष-कथा। वह पढ़ना चाहता है, लेकिन अनपढ़ पिता और दो बड़े भाई सोचते हैं, बड़े होकर दीवान को भी तो गांव के मालिक लोगों का हलवाहा ही बनना है, तो पढ़ कर क्या करेगा। बड़ी बहन चाहती है वह पढ़े। स्कूल भेजती है, लेकिन सवर्णों को यह अच्छा नहीं लगता। वे उसके परिवार को ताने मारते हैं। गांव के बीठ (सवर्ण) बच्चे हमेशा परेशान करते हैं, पिटाई तक कर देते हैं। स्कूल में उससे दूरी बना कर बैठते हैं और उससे छू जाने से परहेज़ करते हैं। स्कूल में जिन सुंदर सिंह मास्साब की वजह से दीवान को प्रवेश मिलता है, वे उसे पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। पर उनके रिटायर होते ही 'नये आये ब्राह्मण अध्यापक ने दीवान को स्कूल की सफ़ाई के काम में लगा दिया। उन्होंने उसे पढ़ने के लिए कक्षा में भी नहीं बैठने दिया। उसके लिए बैठने की जगह बाहर बारामदे में मुक़र्रर कर दी गयी। लेकिन सुंदर सिंह मास्साब रिटायरमेंट के बाद भी उस प्रतिभाशाली बच्चे दीवान को पढ़ाई में मदद करते हैं। अगर वे न होते तो दीवान शिक्षा की यह कठिन यात्रा कभी पूरी न कर पाता। इस यात्रा में उसकी दीदी और भाभी जैसे कुछ सहयोगी भी मिलते रहे। कुल मिला कर एक दलित बच्चे के लिए गौला गांव जैसे गांव-क़स्बों में पढ़ाई करने की राह में कितनी अड़चनें आती हैं, इसकी रोंगटे खड़े कर देने वाली दास्तान है *टिकटशुदा रुक़्क़ा*।

कॉलेज में दीवान का सहपाठी सुरेश पासी, जो बाद में कांशीराम के बहुजन आंदोलन में शामिल होता है और मैदानी क्षेत्र के दलित-पिछड़ों की राजनीतिक-सामाजिक जागृति का सेनानी बनता है, दीवान को समझाता है कि उसके पिता अवश्य ही बंधुआ मज़दूर होंगे। तब गांव जाने पर दीवान का वास्तविकता से सामना होता है। वह अब तक सचमुच भोला था। उसके पिता को तो अब भी अपने बंधुआ होने का अहसास नहीं है।

ख़ुद दीवान राम भी दलित चेतना के उभार का साक्षी सुरेश के ज़रिये ही बनता है। तभी आगे चल कर उसमें उत्तराखंड के भोले-भाले दलितों में शिक्षा और सामाजिक जाग्रति फैलाने की तड़प पैदा होती है। यह चिंगारी उसके भीतर पहले से मौजूद तो थी, लेकिन सुलगती तब है जब पिता और दादा के नाम के सौ-सौ रुपये और पच्चीस रुपये कर्ज़ के रुक्क़े वह देखता है। इन और ऐसे कुछ रुक़्क़ों के ज़रिये ली गयी मामूली रक़म के कारण वे दास बने हुए थे। इस तरह शुरू होता है भीषण अंतर्द्वंद्व। उसे अफ़सोस होता है और ख़ुद पर क्रोध आता है कि वह किताबों में डूबा रहा लेकिन अपने घर, गांव और समाज की विसंगतियों पर उसकी नज़र नहीं गयी।

उपन्यास में 1980 की एक सच्ची घटना का ज़िक्र है, जिसे 'कफल्टा कांड' के नाम से जाना जाता है। रानीखेत (जिला अल्मोड़ा) के पास कफल्टा गांव के ठाकुरों ने डोली में बारात निकाल रहे शिल्पकारों (दलितों) को डोली से उतरने के लिए कहा था। इसी में फसाद हो गया और किसी शिल्पकार बाराती ने एक फ़ौजी सवर्ण को चाकू मार दिया। इसके बाद कफल्टा के सवर्ण बौखला गये और मरने-मारने पर उतर आये। शिल्पकार जान बचा कर भागे और अपने एक परिचित के घर में घुस गये। ठाकुरों ने मकान में आग लगा दी। इसमें कई शिल्पकार ज़िंदा जल गये। पर्यावरण की चिंता भी उपन्यास का एक महत्पूर्ण पक्ष है। मसलन, चौड़े पत्तों वाले वृक्षों की जगह चीड़ के जंगलों के विस्तार से होने वाले दुष्परिणामों की चर्चा लेखक ने की है। बताया है कि चीड़ के पेड़ों के कारण वनों में केवल आग ही नहीं लगती, पानी की भी कमी हो गयी है। गधेरे (छोटी नदियां), नौले सूख गये हैं। निश्चित ही यह पर्वतीय राज्य में विकास के नाम पर उस अंधी दौड़ का ही दुष्परिणाम है जिसका एकमात्र मक़सद धन की लूट है।

उपन्यास का एक पहलू कॉरपोरेट जगत की वह तस्वीर है जिसका स्याह पक्ष या तो हमें दिखायी नहीं देता या जिसे हम स्वीकार कर चुके हैं। यह स्याह पक्ष दीवान की कथा के माध्यम से बहुत की सहज और स्वाभाविक रूप में उभर कर सामने आया है। दीवान मानसिक असंतुलन से गुज़र रहा है और जिस बहुराष्ट्रीय कंपनी में वह काम करता है वह दीवान के जल्द से जल्द ठीक होने के सारे प्रयत्न इसलिए कर रही है क्योंकि उसके एडल्ट डायपर को मार्केट में लांच करने में विलंब हो रहा है। इस कवायद में कारपोरेट दुनिया का एक बेहद बेरहम और अमानवीय चेहरा सामने आता है। आज के युवाओं की त्रासदी यह है कि कारपोरेट दुनिया और वहां का पैसा उन्हें बहुत आकर्षित करता है, लेकिन उस दुनिया में प्रवेश करने के बाद उन्हें पता चलता है कि किस मानसिक श्रम के बदले उन्हें वह सब हासिल हो रहा है, बाहर से भव्य और कभी-कभी उदार दिखने वाला वह चेहरा अंदर से कितना क्रूर, स्वार्थी और संवेदनहीन है। ज़्यादा पैसा देकर ज़्यादा से ज़्यादा निचोड़ लेने वाली कारपोरेट दुनिया इतनी अमानवीय और बेशर्म है कि आप जिस दिन संकट में घिरते हैं या आप जिस पल उनके काम के नहीं रह जाते उसी पल वे आपसे किनारा कर लेते हैं।

अत्यंत ग़रीबी में ज़िंदगी गुज़ार चुका एक युवक कारपोरेट दुनिया के लिए इसलिए उपयोगी है क्योंकि उसके पास ग़रीबों और मध्यवर्गीय लोगों के जीवन-व्यवहार के बहुत सारे उपयोगी अनुभव हैं। वह बता सकता है कि कंजूस या किफ़ायत पसंद भारतीय उपभोक्ता से टूथपेस्ट की ट्यूब का मुंह चौड़ा करके ही ज़्यादा पेस्ट ख़र्च करवाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। वही व्यक्ति जब बीमार पड़ने के बाद बेहोशी की हालत से बाहर निकला तो कंपनी के इंडिया प्रेसीडेंट को सिंगापुर मुख्यालय का गोपनीय संदेश मिलता है— 'यह अच्छी ख़बर है कि दीवान राम ठीक हो गये हैं लेकिन उनकी बीमारी से यह साबित हुआ है कि मानसिक रूप से वे दृढ़ नहीं हैं। वे कंपनी के लिए काफ़ी उपयोगी रहे हैं किंतु अब इनोवेशन डिवीजज़न की कमान ऐसे व्यक्ति के हाथ में रखना उचित नहीं होगा जिसका चित्त स्थिर नहीं है।...' जिस दौर में बड़े गुपचुप तरीक़े से और बड़ी तेज़ी से सरकारी और स्थायी नौकरियां समाप्त हो रही हैं और कारपोरेट कल्चर पनप रहा है, जिस दौर में दलित चेतना का उभार फिर से ज़रूरी लगने लगा हो, ऐन उसी दौर में इस उपन्यास का आना जितना सामयिक और सुखद है, उपन्यास पाठक को उतना ही बेचैन भी कर देता है।

दीवान का विवाह एक ऐसे दलित परिवार की बेटी शिवानी से होता है, जो दलितों में उभरे नवधनाढ्य वर्ग से है। शिवानी के पिता दीवान के अपने लोगों के बीच लौटने और काम करने के संकल्प की हर क़दम पर हवा निकालते रहते हैं। वह अध्यापक बन कर गांव जाना चाहता है, लेकिन शिवानी के पिता उसके इरादे पर झल्ला पड़ते हैं। दीवान के भीतर भारी द्वंद्व छिड़ा था, जिसका प्रभाव नौकरी और वैवाहिक जीवन, दोनों पर पड़ रहा था। एक ओर वह लीकप्रूफ़ एडल्ट डायपर पर इनोवेशन कर रहा है और दूसरी ओर दिमाग़ में यह ख़याल कौंध रहा है कि असली इनोवेशन तो कांशीराम जी (बहुजन समाज पार्टी के नेता) ने किया। उनके इनोवेशन से दलित समाज का सामाजिक-राजनीतिक सशक्तीकरण हुआ, जबकि मैं यहां एडल्ट डायपर पर इनोवेशन कर रहा हूं। लानत है। दूसरी ओर नौकरी छोड़ कर गांव लौट पड़ने पर परिवार का सहयोग मिलने और नहीं मिलने का प्रश्न है।

जब वह नौकरी छोड़ने का फ़ैसला करता है तो शिवानी के पिता बहुत चीखते-चिल्लाते हैं कि कैसे वह परिवार के साथ पहाड़ के उजाड़ गांव में रहेगा। लेकिन शिवानी उसका साथ देती है। दीवान और उसकी पत्नी का दीवान के गांव जाने का फ़ैसला सुखद तो है लेकिन यह आदर्शवाद किसी साहित्यिक कृति के लिए बहुत आदर्श स्थिति का द्योतक नहीं कहा जा सकता। यथार्थ स्वीकार्य न होने की हद तक कटु बेशक हो, लेकिन साहित्यिक विश्वसनीयता की बुनियाद वही है। अच्छी बात यह है कि नवीन जोशी ने इस उपन्यास में सामाजिक अंतर्विरोधों को 'वास्तविकता से बहुत अधिक तीव्र' नहीं होने दिया है। यह संतुलन *टिकटशुदा रुक़्क़ा* को पठनीय और उल्लेखनीय बनाता है। नवीन जोशी के साहित्य पर, उनकी पत्रकारीय पहचान से अलग विचार किये जाने की ज़रूरत है।

द्रवीभूत होकर भरा हुआ विचार

नवल शुक्ल के उपन्यास *तिलोका वायकान* में कथा के बहुतेरे आयाम या बहुतेरी कथाओं से बुना-बिंधा कोई वृहद् आख्यान दृश्यमान नहीं है। यह एक जीवन-खंड की कथा है जिसका पूरा टेक्सचर व स्ट्रक्चर सांकेतिक है, इसलिए यह कृति एक लंबी कहानी की तरह लगती है—एक औपन्यासिक

कथा। हालांकि यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि केवल इसलिए कोई कृति उपन्यास विधा से बेदख़ल नहीं की जा सकती कि वह उपन्यास के परंपरागत ढांचे में फ़िट नहीं बैठती। अगर देरिदा पर भरोसा करें तो वे जो मानते थे, वह यह है कि 'हर साहित्यिक कृति साहित्य के मानदंडों से धोखा करती है।' कम से कम ऐसा तो नहीं हो सकता कि उपन्यास-रूप एक हो। परमानंद श्रीवास्तव (*उपन्यास के विरुद्ध उपन्यास*) कहते हैं कि 'लूकाच ने उपन्यास-रूप की उस विशिष्टता को स्वीकार किया है जो एक सीमित कथा में भी बड़ा स्पेस बनाती है।' उदय प्रकाश के *मेंगोसिल* को वे इसी युक्ति का प्रमाण बताते हैं। यह बात *तिलोका वायकान* पर भी लागू होती है। बहरहाल, इस कृति में अनकहे को पढ़ना ही उसका वास्तविक पाठ है। अगर इस कृति का पाठ लंबी कहानी की तरह ही किया जाये और नामवर सिंह के हवाले से कहा जाये (निर्मल वर्मा की कहानी के 'टेक्स्चर' पर बात करते हुए जो उन्होंने कहा था) तो 'कहानी में वाक्यों की शृंखला इतनी लयबद्ध चलती है कि संपूर्ण विन्यास अनजाने ही मन को संगीत की लहरों पर आरोह-अवरोह के साथ बहाता चलता है।' और आगे वे कहानी के इस विन्यास को कथा-तत्वों द्वारा उत्पन्न प्रभावान्विति को समृद्ध करने में जिस रूप में सहायक बताते हैं, *तिलोका वायकान* पर वह काफ़ी हद तक लागू होता है। मानो वह कोई सूत्र हो। उपन्यास के फ़्लैप में अमिताभ राय ने लिखा है कि 'पूरे उपन्यास की संवेदनात्मक संरचना विवरणात्मक नहीं है। उसमें बिंबों, प्रतीकों, अप्रत्यक्ष कथनों की प्रभावी भूमिका है। चूंकि ये सारे उपकरण काव्य संवेदना के हैं इसलिए इस उपन्यास में लय और राग की अंतर्वर्ती धारा सदैव मौजूद है।'

असल में यह एक अलग तरह का लघु उपन्यास/नॉवलेट या लंबी कहानी है, जिसमें कथा के समानांतर एक कथा शेडो की तरह चलती है। उसे पहचानने और उसका अपने तईं पाठ करने के लिए लेखक उसे पाठकों पर छोड़ देता है। अन्यथा बहुत छोटी-सी कहानी है जो धूल-मिट्टी में खेलने वाली एक लड़की की खोज से जुड़ी है। यह लड़की नेरेटर के स्वप्न में बार-बार आती है और उसे खोजने के लिए ही वह आदिवासी अंचल की यात्रा करता है। एक दिन वही या वैसी ही लड़की जब उसे मिलती है और जब वह उसके समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखता है तो उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, यही कही गयी कहानी है। वाचक स्वयं इसका मुख्य पात्र है लेकिन इस प्रथम-पुरुष शैली के कारण उपन्यास की सीमा यह बन जाती है कि पूरे घटनाक्रम में दूसरे पात्रों का नज़रिया बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। बहरहाल, पूरी कथा में जो अनकहा है, जिसके संकेत मात्र मिलते हैं वह असल में वास्तविक कथा है। आदिवासियों का जीवन इसमें एक छाया की तरह चलता है। यानी यह मूल प्रश्न कहानी में रक्त और मज्जा की तरह विद्यमान है कि आदिवासी जीवन को हम बाहर से कैसे देखते हैं, वह दृष्टि क्या है और आदिवासी जीवन वास्तव में क्या है। अमिताभ राय फ़्लैप में लिखते हैं कि 'तिलोका तक पहुंचने में वाचक जो यात्रा तय करता है, वह यात्रा कई मायने में विशिष्ट है। आधुनिक विकास की जो यात्रा है, यह उसका एक क़िस्म से प्रत्याख्यान है। विकास की भौतिक यात्राएं मुख्य भूमि की ओर होती हैं। परंतु वाचक की यात्रा मुख्य भूमि से दूर उस आदिवासी अंचल तक की यात्रा है, जहां मनुष्य प्रकृति के विजेता के रूप में नहीं है, वह उसका सहचर है, उसका अभिन्न अंग है।'

मनुष्य प्रकृति का अभिन्न अंग है, यह मंतव्य वाचक के ज़रिये शुरू में ही स्पष्ट हो जाता है जब वह स्वप्न का ज़िक्र करते हुए कहता है कि 'यह जंगल मुझे अपने बाबा का जंगल क्यों लग रहा है ? ये पेड़ इतने आत्मीय क्यों हैं?' अगर नामवर जी के शब्दों में कहा जाये तो यही 'आधारभूत विचार द्रवीभूत होकर' तिलोका वायकान के शरीर में भरा हुआ है। असल में आदिम जीवन ही हमारा मूल है। मुख्य यात्रा तो वही है। बाक़ी की हमारी यात्राएं केवल विकास-यात्राएं हैं और विकास कैसा हो, यह हम समझना या समझाना नहीं चाहते। हमने विकास के नाम पर प्रकृति का और उसके संसाधनों का दोहन भर किया। तथाकथित विकास करते हुए, अपने मूल को और प्रकृति के साथ अपने संबंधों को हम भूल गये। आदिवासियों को देखने की हमारी दृष्टि पर भी यह उपन्यास तीखा व्यंग्य है। इसे वाचक ने 'दूसरी ओर का आकर्षण' कहा है और ख़ुद से सवाल किया है कि क्या मैं प्रश्नकर्ता पर्यटक की तरह हूं जो हर जगह थोड़ा-थोड़ा समय बिताता हुआ, सिर्फ़ शब्दों से सूचना प्राप्त करता हुआ गुज़र जाता है ? आज के विकास के मॉडल में आदिवासी अंचल, आदिवासियों का जीवन, उनकी संस्कृति में ऐसा आकर्षण है, जिसे पर्यटन की दृष्टि से या आनंद के लिए, मनोरंजन के लिए हम देखना भर चाहते हैं। जबकि प्रकृति के सहचरों का जीवन बहुत ही सरल व स्वाभाविक है और वे प्रदर्शन के लिए कुछ नहीं कर रहे हैं। वे आपके देखने लिए या ख़ुद को दिखाने के लिए कुछ नहीं करते। वे जो कर रहे हैं, चाहे नृत्य हो या कोई और गतिविधि वह प्रकृति जैसी स्वाभाविक है और उसमें करने जैसा कुछ नहीं है, बल्कि इस तरह है मानो ख़ुद हो रहा है। वाचक जब स्वप्न में जंगल में पहुंचा है और उनका गायन-वादन सुनता और नृत्य देखता है तो कहता है कि 'वे नहीं चाहते थे जिस तरह मैं अपने सपने में उनके नाच को देख रहा हूं, उसी तरह वे मेरे सपने में आयें और मेरे द्वारा देखते हुए नाच को देखें। वे मेरे सपने में आना और मेरे देखते हुए को देखना नहीं चाहते थे।' आगे और स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि 'हमें जैसे ही नाचने या गाने का अहसास होता है, वैसे ही वह गतिविधि विशेष होने लगती है। उसमें एक सोच, क्रमबद्धता और पूर्णता आने लगती है।...यहां जो गीत गाये जा रहे हैं वे ऐसे हैं मानो उन्हें कहीं जाना नहीं है। समुद्र पर हिलती नाव की तरह यहीं रहना है।'

जीप में बैठ कर आदिवासियों के गांव की तरफ़ जाते हुए रास्ते में लंगोट या एक ही कपड़ा पहने स्त्री-पुरुष मिलते हैं जो जीप को हाथ देते हैं। उनमें से किसी के कंधे पर धनुष लटके हैं, तो किसी के कुल्हाड़ी। जीप के ड्राइवर के माथे पर पसीना चुहचुहा आता है। ड्राइवर उपन्यास के वाचक को एडवेंचर के लिए आया यात्री जान कर पूछता है कि आप तो इसीलिए आये हैं न? यही सब देखने? क्या आपको इसमें मज़ा आता है? असल में आदिवासियों के बारे में क़िस्से-कहानियां प्रचलित हैं कि वे ख़तरनाक होते हैं। वाचक एक जगह सोच रहा है— 'हम (जो उन जैसे नहीं हैं) बातों और भावनाओं के मामले में चालाक होते हैं। हम भ्रम की स्थिति अपने व्यवहार से खड़ी करते हैं। हम ऐसे कुशल व्यवहार के अनुपात को आवश्यकतानुसार कम या अधिक करते रहते हैं।' आदिवासियों के बारे में उसकी राय है कि 'जंगल के साथ रहने वाले लोग अपनी पहचान को बनाये रखते हैं। उनमें दोहरापन नहीं के बराबर होता है। ...वे जो होते हैं, उसे बताने, समझाने के लिए अपने को प्रदर्शित नहीं करते। जबकि हमारा काम

प्रदर्शन के बिना असंभव हो जाता है।'

असल में नरेटर की यह यात्रा विकास के हमारे मॉडल को देखने और समझने की यात्रा भी है। अतिवादी और उन्मादी शक्तियां जिस तरह समाजिक तानेबाने के लिए ख़तरा हैं, उसी तरह मनुष्य का लालच, स्वार्थ हमारे पर्यावरण और प्रकृति को संकटग्रस्त कर देते हैं। इस तरह ये दोनों मनुष्यता को ही संकटग्रस्त करते हैं। एक तरफ़ आदिवासी हमारे लिए नुमाइश की चीज़ हैं, दूसरी ओर हम जंगलों पर या उन संसाधनों पर कब्ज़ा करने के उद्देश्य से ही उनके और उनके क्षेत्र के विकास की योजनाएं बना रहे हैं। जो अंततः उनकी जीवन-पद्धति पर, उनकी संस्कृति, उनकी भाषा पर एक तरह का हमला साबित होती हैं। जो बात लेखक ने वाचक के माध्यम से कही उसका आशय दरअसल यही प्रतीत होता है। इसीलिए नरेटर सोचता है, 'यदि मैं इस जगह के लिए, अपने इन आत्मीय और सुखद लोगों के लिए अलग से कुछ कर नहीं पाया तब तो इनके साथ का मेरा संबंध व्यर्थ है।' फिर वह सोचता है कि 'यदि मैं इनके लिए कुछ भी करूंगा तो वह अंततः एक योजना होगी। विकास से संबंधित, पानी से संबंधित, शिक्षा, संस्कृति या जीवन से संबंधित। और इतना तो निश्चित है कि यह योजना यहां के लिए आयातित ही होगी।...जबकि परिवर्तन जो भी होना चाहिए, वह वहीं के ढंग से, वहीं की सोच से और उन्हीं के द्वारा होना चाहिए। हमें उसमें सहयोगी मात्र की भूमिका निभानी चाहिए।'

दूसरी ओर, *तिलोका वायकान* प्रेम की भी अद्भुत कथा है। तिलोका और वाचक के बीच प्रेम है। इसके बावजूद तिलोका विवाह बंधन में बंधने से इनकार कर देती है। इनकार के बावजूद दोनों एक-दूसरे से प्रेम करना जारी रखते हैं। यह प्रेम प्रकृति से भी है, मनुष्यों से भी है। इसमें गहरा विश्वास है, समर्पण है, एक-दूसरे की हिफ़ाज़त करने, ध्यान रखने की अदम्य इच्छा है। अगर अविश्वास कहीं है तो संभ्रांत और सभ्य कहे जाने वाले समाज की ओर से है। वह आदिवासियों के बारे में शंका करता है, क्योंकि वह उस तरह प्रेम नहीं कर सकता या उनकी तरह निःस्वार्थ भाव से न प्रकृति को देख सकता है और न मनुष्यों को। अन्यथा आदिवासी समाज में इतना अपनापन और ऐसे रागात्मक रिश्ते हैं कि वहां सब एक-दूसरे के हैं। वे प्रेम करते हैं , पर उसके बारे में व्यक्त कम करते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण वड्डे और अइतो का वाचक के प्रति निःस्वार्थ प्रेम और अपनापन है। वहां सब कुछ स्वप्न की तरह है। वहां यह पता नहीं चलता कि स्वप्न क्या है और यथार्थ क्या। स्वप्न यथार्थ की तरह है और यथार्थ स्वप्न की तरह। स्वप्न और यथार्थ जब मिलते हैं तो *तिलोका वायकान* की रचना होती है। इसकी सामर्थ्य यह है कि इसके कई पाठ हो सकते हैं। यह एक ऐसे काव्यात्मक आख्यान की तरह है जिसकी रिदम को आप पढ़ने से अधिक महसूस कर सकते हैं और इस तरह यह संगीत जैसी या कविता जैसी संप्रेषणीय कृति है। इस उपन्यास को पढ़ना वैसा ही है जैसे वाचक का अपने सपने में चांदनी रात की पगडंडी पर तिलोका को जाते देखना। अलबत्ता उपन्यास में थोड़े और विस्तार की गुंजाइश अवश्य थी।

मो. 9811807279

पुस्तक संदर्भ

प्रत्यंचा : संजीव, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019
***टिकटशुदा रुक़्क़ा : नवीन जोशी,* नवारुण, वसुंधरा, ग़ाज़ियाबाद, 2020**
तिलोका वायकान : नवल शुक्ल, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2020

अतीत के कालखंडों में वर्तमान की दस्तक

अरविंद कुमार

पिछले तीन वर्षों में हिंदी में तीन महत्त्वपूर्ण उपन्यास आये और यह संयोग है कि तीनों ही उपन्यासकार पटना के हैं और तीनों हिंदी के चर्चित कथाकार हैं। पहला उपन्यास *अशोक राजपथ* है, जो 2018 में आया और जिसके लेखक हैं अवधेश प्रीत। दूसरा उपन्यास *अग्निलीक* है, जो 2019 में आया है और जिसके रचयिता हैं हृषीकेश सुलभ तथा तीसरा उपन्यास संतोष दीक्षित का *घर बदर* है, जो इसी वर्ष 2020 में प्रकाशित हुआ है। इन तीनों उपन्यासों की कथा-भूमि अलग-अलग है। *अशोक राजपथ* छात्र राजनीति पर केंद्रित उपन्यास है, तो *अग्निलीक* ग्रामीण जीवन और राजनीति पर केंद्रित है जबकि *घर बदर* एक निम्नमध्यमवर्गीय परिवार के टूटते-बिखरते सपनों की कथा है। *अशोक राजपथ* में कथा की केंद्रीयता पटना के अशोक राजपथ पर घटित होती है तो *अग्निलीक* की कथा सीवान के दो गांवों, देवली और मनरौली, के इर्द-गिर्द घूमती है, जबकि *घर बदर* की कथा का केंद्र पटना का एक मुहल्ला आज़ादनगर है। इस उपन्यास का कथानक घूमफिर कर बार बार आज़ादनगर में लौटता है और फिर वहीं ख़त्म भी होता है। *अशोक राजपथ* की कथा भी घूमफिर कर वहीं लौटती है और उसी राजपथ पर ख़त्म भी होती है। पर *अग्निलीक* की कथा सीवान के देवली और मनरौली होते हुए अमरपुर जाती है और फिर पटना के कुछ इलाक़ों में घूमती है। हालांकि इस उपन्यास का अंत भी देवली में ही होता है। सीवान का देवली सत्ता के एक वैसे नये केंद्र के रूप में उभरता है जहां राजनीति का एक नया समीकरण बनता दिखायी देता है। देवली के जीवन में यह समीकरण स्वीकार्य नहीं है, पर राजनीति में सब चलता है। वहां सत्ता के शीर्ष के लिए जातियों की घृणा नहीं है, धर्मगत विद्वेष भी नहीं है।

अग्निलीक में कथा की चार पीढ़ियां हैं। इन चारों पीढ़ियों में जीवन और प्रेम का स्वीकार नहीं है। पहली पीढ़ी जसोदा देवी की है जिनका विवाह उनकी इच्छा के विपरीत अकलू यादव से कर दिया जाता है। जसोदा देवी अपने ही गांव के एक युवक लीला साह से प्रेम करती हैं और उसे अपने जीवन में ग्रहण करना चाहती हैं, पर यह जसोदा देवी के पिता रामआसरे यादव को मंज़ूर नहीं है। और देखते-देखते एक दिन लीला साह घाघरा तट की रेत में ग़ायब हो जाते हैं। जसोदा देवी के सपनों को पंख नहीं मिलते, उन्हें घाघरा के जल में बहा दिया जाता है।...अकलू यादव डकैत हैं पर जसोदा देवी के सामने विकल्प कहां है! जसोदा देवी को सब पता है, इसलिए अकलू यादव के साथ भी वे अपने को ख़ुश रखने का प्रयास करती हैं। उन्हें यह भी पता है कि अकलू यादव के संबंध गांव के सामंत रामबरन सिंह की विधवा बहन रामझरी से हैं, पर जसोदा देवी के गर्भ में लीलाधर यादव हैं और उसे अपना सबकुछ मानने को वे विवश हैं। जिस लीला साह को देखे बिना जसोदा के लिए भोर नहीं होती और न सांझ आती, वे अब सिर्फ़ उनकी स्मृतियों में थे। उन्हें याद है कि वैसे बलखाती छाड़न धाराओं के बीच फैली रेत पर अपने पांव धंसा-धंसाकर पगचिह्न बनाते लीला साह और उनके पीछे-पीछे उनके पगचिह्नों पर अपने डेग धरती जसोदा। घाघरा के तट पर शाहजहां की बनवायी मस्जिद के खंडहरों के बीच पसरी लताओं से पके लाल कुंदरू के फल तोड़कर लीला पर फेंकती जसोदा तो कभी अपने लीला के लिए करजीरी के लाल-काले दाने चुनकर माला गूंथती जसोदा।...यह थी अमरपुर के जसोदा के ख़्वाबों की पहली हत्या। ख़्वाबों की दूसरी हत्या तब हुई जब दूसरी पीढ़ी के लीलाधर यादव की पुत्री कुंती ने गांव के ही एक स्कूल मास्टर मुचकुंद शर्मा से प्रेम किया। कुंती के भाई रमन सिंह यादव की शान के विरुद्ध था यह कि उनकी बहन से कोई प्रेम करने की जुर्रत करे। और एक दिन मास्टर मुचकुंद शर्मा अपने स्कूल में ही रहस्यमय परिस्थितियों में मरे पाये गये। और सुनहरे ख़्वाबों की यह दुनिया तीसरी बार तब रौंदी गयी जब उसी परिवार की लड़की रेवती ने रजक जाति के एक लड़के से प्रेम किया। मनोहर उसका सहपाठी था और रेवती का सपना उसे सामाजिक समृद्धि और प्रतिष्ठा तक पहुंचाना था। पर वह रक्त विकारी था, इसलिए इस बार भी एक भाई ने ही रेवती के प्रेम का गला घोंट दिया। सुजीत सिंह यादव ने पटना के दलदली गली के भक्तिन लॉज में दिन दहाड़े मनोहर की गोली मारकर हत्या कर दी। अशोक राजपथ के चौरसिया पान भंडार में डेक पर एक गाना बार-बार गूंजता है- 'गोली मार भेजे में, भेजा शोर करता है' यानी असहमति की कोई जगह कहीं भी नहीं है। चाहे वह घर का गलियारा हो या राजनीति का।

1857 की क्रांति में घाघरा का जो तट अंग्रेज़ों के विरुद्ध बग़ावत का केंद्र बना हुआ था, वही सौ साल बाद डाकुओं के बड़े गिरोह का आश्रय स्थल हो गया था। वहां हत्याएं और ख़ून-ख़राबा आम बात थी। अमरपुर के महाजन रामजस साह के पुत्र लीला साह भी तो यहीं से हमेशा के लिए ग़ायब हो गये थे। इसी के तट पर कई बड़ी डकैतियों की रूपरेखा तैयार हुई थी, जिसमें से एक में असफल होने पर लीलाधर यादव के पिता अकलू यादव अपनी माशूक़ा रामझरी के हाथों मार डाले गये थे। तब लीलाधर बहुत छोटे थे। इसलिए जब वे बड़े हुए तो जल्दी परिपक्व हो गये। उनके पिता ने उनके परिवार पर जो दाग़ छोड़े थे वे उससे मुक्त होने की कोशिश में लगे रहे। उनका मुखिया बनना और मुखिया बने रहना इसी कोशिश का एक प्रतिफल था। ज़ाहिर है कि पूर्व के वे दाग़ धुलते चले गये और पूरे देवली में उनका दबदबा क़ायम हो गया। बाद में देवली की सीट के महिला आरक्षित हो जाने पर इसी दबदबे को बरक़रार रखने के लिए अपनी पौत्री रेवती के पास वे गये, हालांकि इसमें एक भाव यह भी छुपा हुआ था कि मुखिया बनने के बाद रेवती का ध्यान स्वतः ही मनोहर की ओर से हट जायेगा और उनपर अपनी मां को दिये गये वचन को पूरा करने का भार नहीं

रहेगा। साथ ही रेवती और मनोहर के रिश्ते से जो निंदा उनके परिवार की होगी उससे भी वे अपने परिवार को निकाल ले जायेंगे।

पर यह हो नहीं पाता। मुखिया लीलाधर यादव का आंगन घृणा, अपमान, अविश्वास और अस्वीकार का लावा उगलते ज्वालामुखी में बदल जाता है। वहां बौराये हत्यारों का एक ऐसा झुंड प्रकट होता है जिनके लिए रिश्तों की कोई अहमियत नहीं होती, न प्रेम जैसे शब्दों का कोई मतलब होता है। वैसे इस कथानक में कई हत्याएं हैं। उपन्यास शुरू ही होता है शमशेर सांई की हत्या से और इसका अंत भी इसी तरफ़ मुड़ता है जब कथानक के ख़त्म होने के ठीक पहले मनोहर रजक की हत्या हो जाती है। *अशोक राजपथ* में कमलेश की हत्या भी दिन दहाड़े ही होती है। समाज में जो अति पिछड़े हैं, दलित हैं, उनकी भागीदारी समाज और राजनीति में कम से कम हो, वे किसी भी तरह बराबरी के साथ खड़े नहीं हो पायें और यदि वे ऐसा करने का प्रयास करते हैं तो अंजाम सामने है।

ऐसे संस्कारों के बीच मुखिया लीलाधर यादव यदि रेशमा कलवारिन को सरपंच के पद के लिए खड़ा करवाते हैं तो इसलिए कि रेशमा हमेशा रेवती की ढाल बनी रहेगी। वे जानते हैं कि रेशमा ने अब तक अपनी देह को हथियार बनाकर अपना फ़ायदा निकाला है, वे यह भी जानते हैं कि रेशमा के कई-कई मर्दों से नाजायज़ संबंध रहे हैं, फिर भी उनके लिए राजनीति में शुचिता और पवित्रता का कोई अर्थ नहीं। लीलाधर रेशमा से कहते हैं, 'तुमको चुनाव लड़ना है इस बार। सरपंच का चुनाव।'। महाजाल फेंककर जैसे कोई सधा हुआ मछुआरा धीरज के साथ इंतज़ार करता है, वैसे ही लीलाधर यादव निहारते हैं रेशमा को। रेशमा इसे सहज ही स्वीकार लेती है, 'हम तैयार हैं। लड़ेंगे सरपंच का चुनाव। आपका आशीर्वाद मिल रहा है, यही बड़की बात है मेरे लिए।' रेशमा के चेहरे पर तिर्यक मुस्कान उभरी और लुप्त हो गयी। एक ऐसा ही महाजाल लीलाधर ने अपनी पोती रेवती के लिए भी फेंका था। अपने दामाद मनन चौधरी के साथ रेवती के छात्रावास जाकर उन्होंने मनन चौधरी की मदद से उसे समझाया था, 'हम चाहते हैं कि तुम चुनाव लड़ो। चुनाव के बाद ...जीतने के बाद भी तुम्हारी पढ़ाई चलती रहेगी। आई.ए.एस. बनकर किसी नेता के पीछे डोलने से बेहतर है राजनीति। यह शुरुआत होगी तुम्हारी। देवली में तुम्हारा तीन सौ पैंसठ दिन रहना ज़रूरी नहीं। तुम्हारे बाबा देखेंगे तुम्हारा सारा काम। तुम पढ़ी-लिखी हो। तुम्हारा परिवार राजनीतिक परिवार है। मुखिया की कुर्सी जल्द ही बहुत छोटी हो जायेगी तुम्हारे लिए। एक लीक पकड़कर चलने से कुछ नहीं होता। कई बार बेहतरी के लिए रास्ता बदलना पड़ता है।...हम तुम्हारे पास बहुत भरोसे से आये थे।' घिर गयी थी रेवती। 'बाबा!', बरसात में गिरती भीत की तरह रेवती की आवाज़ भहरा कर गिरी। वह उठी और अपने बाबा से लिपट गयी। वह बिलख-बिलखकर रोये जा रही थी। लीलाधर भी रो रहे थे। पास खड़े मनन चौधरी किसी मंजे हुए खिलाड़ी की तरह बाबा-पोती की यह रुदन-लीला निहार रहे थे। उन्होंने कहा था, ' बबुनी, अपने हिसाब से जीने के लिए यह ज़रूरी है कि ताक़त अपने हाथ में हो।...ताक़त और सत्ता तुम्हारे दुआर पर खड़ी है। ठुकराओ मत इसे।' यह कहते हुए लोकतंत्र के धर्मयुद्ध में रेवती को झोंककर चले गये उसके अपने पुरखे, हितैषी, परिजन। रेवती की आंखों के सामने आजी जसोदा देवी के चेहरे की रेखाएं झिलमिल कर उठीं। पहाड़, जंगल, वनचर और सभ्यता की नयी संतानें- सबके सब शामिल हैं इस महोल्लास में। वह ढोल बने गर्भ में ही अंगुलियों की थाप से मार दी जायेगी एक दिन! उसके कंठ से औचक एक आर्द्र पुकार फूटी, 'आजी!'

और सचमुच रेवती का भरोसा टूट गया एक दिन जब उसका सबसे प्रिय सखा, दोस्त, प्रेमी उससे छीन लिया गया। किसने की यह साज़िश? क्या उन्होंने जिन्होंने कुंती बुआ से उनका जीवन छीन लिया था या फिर उन्होंने जिन्होंने उसकी आजी के प्रेम को अर्गला लगा दी थी। उपन्यासकार यहां भावनाओं के ज्वार में बह जाता है और लिखता है, '...अचानक बत्तीस तारों के झुंड वाले सत्ताइसवें नक्षत्र का ज्योतिपुंज आकाश से गिरा और मुखिया लीलाधर यादव के आंगन में बिखर गया। एक आकुल अंधेरा पसर गया था चारों ओर। इस अंधियारे में अपने थरथराते पांवों पर स्मृतियों के चिथड़े ओढ़ी खड़ी थी रेवती। एक विलाप-स्वर फूट रहा था भीतर जो अग्निलीक की तरह धरती से आसमान की ओर उठता जा रहा था।'

अब तक जसोदा देवी की निर्भय गोद में उनकी हथेलियों की छुअन से रेवती को सुकून मिलता रहा था। पर अब यह सुकून कौन देगा? जसोदा देवी कहती, '...जब घाघरा जैसी बिना कूल-किनारों वाली नदी नहीं मरी, उसका जल नहीं सूखा तो भला रेवती का कौन कसूर? क्या दुनिया का कोई सुख सोख पायेगा रेवती की आंखों का लोर? इसीलिए उन्होंने लीलाधर से कहा था, 'हमको नहीं पता कहिया तक जिनगी है हमारी? आज हैं, कल न रहें। बस एक बचन दो कि इसके साथ घर परिवार में कोनो आदमी अनियाय ना करेगा। इसकी पढ़ाई हर हाल में बंद ना होगी। जितना चाहे पढ़ना, उतना पढ़ाओगे।...इसका विवाह बिना इसकी मरजी के मत करना।' पर जसोदा देवी के जाते ही सबकुछ बदल गया। न ही उसकी पढ़ाई ही चल पायी और न ही प्रेम। वह तो पूरी तरह ठगी गयी।

जसोदा देवी को यह डर सता रहा था। मर्दों की जननी होकर भी उन्हें मर्दों की बातों पर विश्वास नहीं था। इन मर्दों की दुनिया वे पहले भी देख चुकी थीं। उन्हें आज भी लाल ईंटों से बनी मस्जिद के किनारे बहती घाघरा याद आ रही थी, उसकी छाड़न धाराओं का कज्जल जल याद आ रहा था। और याद आ रहे थे बरसात के दिनों में मस्जिद की मीनारों तक जा पहुंची आवारा लताओं में लटके कुंदरू के पके टेस लाल फल, जिन्हें उसके लिए तोड़ने को उद्दत लीला साह। उसकी हर चाहत को अपने पंखों की उड़ान सौंपते लीला साह। जसोदा देवी इसी से डरती रही थीं। क्या पता कोई आवारा नज़र उनके पंख ही कुतर दे। और हुआ भी यही था। ठीक फगुआ के दिन छाड़न की एक पतली धारा के बीच खड़े लीला किनारे खड़ी जसोदा पर जल उलीच रहे थे। जसोदा भींग रही थी। जसोदा के पीठ के पीछे रामआसरे यादव आ खड़े हुए थे। वे घर से स्नान के लिए निकले थे। लीला ने ही उन्हें सबसे पहले देखा था। छाड़न की रेत में लीला के पांव धंसने लगे थे। पांव खींचने के लिए जितना बूता लगाते लीला, छाड़न की तलहटी और ज़ोर से जकड़ती जाती। लीला से जसोदा का यह अंतिम दरस-परस था। इसलिए उनके स्वर में रेवती के लिए याचना थी। और एक मां होने के नाते लीलाधर के लिए निर्देश भी था। क्योंकि उन्हीं के परिवार के एक लड़के ने रेवती को बाल पकड़कर घसीटा था और उसे कुट्टी-कुट्टी काटकर घाघरा में

बहा देने की बात कही थी। इसलिए जसोदा देवी का डर लाज़मी था, क्योंकि अपने बड़े होने का अहंकार और दुनिया को अपने ढंग से चलाने का दर्प मनुष्य को काफ़ी नीचे गिरा देता है। यह अपने परिवार में वे देख चुकी थीं।

पर *अग्निलीक* में सामाजिक परिवर्तन की कोई पृष्ठभूमि नहीं है और सत्ता का केंद्र सिर्फ़ एक परिवार है। जबकि *अशोक राजपथ* में सारी लड़ाई सामाजिक परिवर्तन की है। कैसे राजनीतिक दल अपने-अपने फ़ायदे के लिए वैचारिक सिद्धांतों की बलि दे देते हैं, उपन्यास में इस पर ख़ासा ज़ोर दिया गया है। निष्कर्ष यही है कि राजनीति में दिल की कोई ज़रूरत नहीं है। इसीलिए उपन्यास के लगभग अंत में जीवकांत अंशुमन से कहता है, 'अंशुमन, हम तो एतना दिन में एक्के बात सीखे हैं बाबू, कि पोलटिक्स में दिल का कोनो काम न है। तुम भी इसको दिल से मत लो।' अंशुमन भी मुस्कुराकर ठंडी आह भरते हुए कहता है, 'दिल न लेफ़्ट में है न राइट में, बस ढूंढ़ते रह जाओगे!' यानी इस मसले पर सारी पार्टियां एक हैं। और वे भी इसी सिद्धांत को मानते हैं जो राजनीतिक दलों से जुड़े नहीं हैं। *अग्निलीक* में इसी दिल को उजाड़ने में लीलाधर यादव का पूरा परिवार शामिल है और जसोदा देवी इसी दिल की बात जीवन-भर करती रही हैं। और यही कारण है कि जीवकांत का मोहभंग राजनीति से हो रहा है। उसे अब नैतिकता, आदर्श, सत्य, न्याय, मूल्य जैसे शब्द सिर्फ़ सैद्धांतिक लगने लगे हैं। हर आदमी एक 'कम्फ़र्ट ज़ोन' की तलाश में है। एक सुरक्षित कोना, जहां उसके लिए सब कुछ हो।

पर *अग्निलीक* में धर्मगत या जातिगत घृणा भी नहीं है। वहां हिंदुओं और मुसलमानों के परिवारों में भले ही सामाजिक रिश्ते नहीं हों, पर एक-दूसरे के सुख-दुख में दोनों काम आते हैं। इस उपन्यास में इसकी एक पूरी कथा मौजूद है। आज का सीवान या पुराना सारण कभी नीलहे अंग्रेज़ों की ज़मींदारी का इलाक़ा हुआ करता था। उपन्यासकार इसीलिए तब की बनी एक लिलही कोठी की चर्चा करता है जो अब खंडहर हो गयी है। सौ-सवा सौ सालों तक नीलहे अंग्रेज़ विपदाओं के असंख्य नीले दाग़ इस देवली गांव की देह, आत्मा और धरती पर लगाते रहे थे। शायद यही वह कारण था कि देवली का चरित्र मूलतः विद्रोही रहा था।

घर बदर, इससे बिल्कुल अलग है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तन और उसके संघर्षों की कोई पृष्ठभूमि नहीं है। यह एक परिवार के टूटते दरकते रिश्तों की कहानी है। पटना के आज़ाद नगर मुहल्ले का एक परिवार जिसके पास दूसरे परिवारों की तरह सपनों का एक संसार है। इस परिवार में तीन पीढ़ियों के बाद घर होने का एक सपना साकार होने जा रहा है। पर जैसे कभी-कभी सपने पूरे नहीं हो पाते, वैसे ही इस परिवार का यह सपना भी साकार नहीं हो पाता है। घर बनता तो है पर आधा-अधूरा रह जाता है और फिर बिक जाता है। दुर्गाशंकर दूबे के पुत्र और रामअवतार दूबे के पौत्र कुंदन दूबे जिसे लेखक सुविधा के लिए कुंदू कहकर पुकारता है, का कोई अच्छी-सी नौकरी पा लेने का सपना तो पूरा हो जाता है पर पीढ़ियों से अपना घर होने का सपना नहीं हो पाता। रेलवे के गार्ड की नौकरी करने वाले के लिए घर बनाना आसान काम नहीं होता, पर मां विष्णुप्रिया देवी की प्रेरणा तथा पत्नी शर्मिला शुक्ला के हठ और लगन से यह कार्य शुरू तो हो जाता है तथा काफ़ी समय तक चलता भी है पर कुंदू के तीसरे सहके बेटे कौशल के आक्रामक व्यवहार तथा कुंदन दूबे की बीमारी के चलते बीच में ही रुक जाता है। कुंदन दूबे के पिता के पसंदीदा गायक थे कुंदनलाल सहगल जिनसे प्रभावित होकर उन्होंने अपने इकलौते बेटे का नाम कुंदन रखा था। कुंदन जीवन भर कुंदन बने रहे, उन्होंने पुत्र, पति, भाई और पिता होने का धर्म बख़ूबी निभाया। उपन्यासकार लिखता है, 'कुंदू इस परिवार के इकलौते चिराग़ थे। आकाश में चंद्रमा समान परिवार में उनकी उपस्थिति थी और एक छोटे से रेवड़ के चरवाहे समान थी उनकी ज़िम्मेवारी। घर में सभी उन्हें भैया कहकर ही बुलाते।' अपनी चारों बहनों- रागिनी, रमोली, रजनी और रानी के वे बहुत प्रिय थे। रागिनी तो उन्हें बहुत चाहती थीं, प्रेम से जिन्हें वे दिद्दा कहते थे। इन्हीं दिद्दा ने उन्हें जवानी के दिनों में एक जवान और रूपवती विधवा सेठानी से बचाया था। कुंदू एक सेठानी के यहां नौकरी करते हुए यह भूल गये थे कि जब तक विवाह न हो अखंड ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। दिद्दा ने उन्हें समझाया था कि जीवन में परस्त्रीगमन का पूर्ण निषेध माना गया है और एक पुरुष का वीर्य उसकी पत्नी की अमानत होता है।

कुंदन दूबे ने बड़ी ही ईमानदारी से अपनी नौकरी की और एक संतुष्टि का भाव लिये रिटायर हुए। हालांकि यह उनके लिए आसान नहीं था, एक तो रेलवे के गार्ड की नौकरी और वह भी मालगाड़ी के गार्ड की। पर जितना सुखकर जीवन का पूर्वार्द्ध रहा, उतना ही कष्टप्रद जीवन का उत्तरार्द्ध हो गया। उनके दो बेटे - कमल और किशोर तो उनका पूरा ख़याल रखते रहे, पर तीसरे बेटे कौशल की बदतमीज़ियों ने उन्हें पूरी तरह बीमार कर दिया। घर के पास के मंदिर में रहनेवाले पंडित नीलकंठ और उनकी पुत्री ने भी कौशल को पिता के विरुद्ध भड़काया। हमेशा ख़ुश रहनेवाले और दूसरों के काम आनेवाले कुंदन दूबे धीरे-धीरे कुंद होते गये और एक दिन उन्होंने इस दुनिया को अलविदा कह दिया। किशोर की दिन-रात की सेवा तथा कमल का मानसिक सहयोग उन्हें बचा नहीं सका। यह उस दूबे परिवार के सपनों का अंत था जिसने कई पीढ़ियों तक किराये के मकान में रहने के बाद एक अपने घर का सपना देखा था। ज़ाहिर है कि कुंदन दूबे की मृत्यु के बाद वह घर बिका और उसकी राशि टुकड़े-टुकड़े में बंट गयी! दूबे परिवार के साथ-साथ शारदा देवी के सपनों का भी अंत हो गया। दूबे परिवार की जो कुलदेवी अब तब दूबे परिवार के सुख-दुख में खड़ी मिलती थीं, वे भी बाज़ार के हवाले हो गयीं। रिश्ते, संस्कार और परंपरा का एकमात्र प्रतीक अब किसी के लिए भी काम का नहीं रहा। बड़ा बेटा कुलदेवी की मूर्त्ति को अपने साथ ले तो गया, पर उसे महत्त्वहीन जानकर 'एंटीक शॉप' में बेच आया। कथावाचक के द्वारा मूर्ति के बारे में पूछने पर वह कहता भी है, 'आप भी न अंकल एकदम से पापा की तरह प्रश्न कर रहे हैं। वह मूर्ति तो मैं इसलिए ले आया था ताकि एक अभिशाप, एक बंधन से मुक्त हो सके परिवार। पापा जीवनपर्यंत इस बंधन से लिपटे और इसी में लिथड़े रहे। इसी के चलते वे 'ग्रो' नहीं कर सके। जीवन भर एक खूंटे के इर्दगिर्द ही नाचते रहे वे। इससे इतर जिंदगी की विराटता, इसकी विविधता के बारे में कुछ न सोच सके। आपको सच बतला देता हूं कि मैंने उसे एक एंटीक शॉप में बेच दिया। पैसा

अच्छा मिल गया हमें। उस पैसे से दोस्तों के संग पार्टी की। बहुत मज़ा आया।'

कुंदन दूबे और उनके पुरखों ने कुलदेवी की मूर्ति के बहाने जो संस्कार अर्जित किये थे या उन्हें बचाया था, वे बाद की पीढ़ी में बिखर गये। रिश्ते, संबंध, जुड़ाव का जो एक संस्कार था, वह देखते-देखते धराशायी हो गया। शारदा देवी शर्मिला शुक्ला होकर अपने पैतृक गांव लौट गयीं और अपने बचपन के गांव में छोटे बच्चों का एक स्कूल खोल लिया। यह सपना तो कुंदन दूबे का भी था जब उन्होंने कहा था, 'सोच रहा हूं कि एक छोटा सा स्कूल खोल लूं! झोपड़पट्टी और गली में डांव-डांव फिरते बच्चों को इकट्ठाकर पढ़ाऊं। उनके लिए कॉपी-किताब की व्यवस्था करूं।' कमल इसकी भी जानकारी कथावाचक को देता है, 'मां मस्त हैं। उनके स्कूल में भले ही अभी चार कमरे हों लेकिन बच्चे सौ से ऊपर ही हैं। अब वे केवल तीन बेटों की नहीं, सैकड़ों बच्चों की मां हैं।' दुख की बात बस यही थी कि शर्मिला शुक्ला ने स्कूल की व्यस्तता के बहाने अपने पति रेलवे के रिटायर्ड गार्ड कुंदन दूबे को पूरी तरह भुला दिया था। पहले भी ज़्यादातर समय बच्चों की पढ़ाई के बहाने अकेले ही रहना पसंद करती थीं और कुंदन दूबे को सिर्फ़ जैविक सुख के लिए इस्तेमाल करती थीं। इसीलिए उन्होंने घर में बची उनकी एकमात्र तस्वीर को भी अपने साथ रखने से इंकार कर दिया था। यह कुंदू की जवानी के दिनों की श्वेत-श्याम तस्वीर थी जिसे कथावाचक अपने घर ले आया था। इस तस्वीर को अपने साथ कोई नहीं ले जाने को तैयार था जिसमें कुंदू अपलक सामने ताकते हुए मुस्करा रहे थे। कुंदन दूबे की यह सहज मुस्कराहट शायद किसी को पसंद नहीं थी क्योंकि सभी को उन्हें परेशान देखने की आदत हो गयी थी। उनका पगला बेटा कौशल कह भी रहा था, 'डर लग रहा है इस तस्वीर की ओर देखकर!' पर कथावाचक के लिए यह तस्वीर स्मृतियों का एक पुंज थी। एक गुज़रा हुआ कालखंड, जो मनुष्य के संघर्ष और उसकी जिजीविषा का एक स्वर था। कुंदू त्योहार की छुट्टियों में डबल ड्यूटी करते क्योंकि उसके एवज़ में उन्हें दुगना वेतन मिलता। अम्मा फ़ोनकर बिगड़तीं तो कुंदू हंसते हुए जवाब देते, 'रेलवे की नौकरी है अम्मा, पर्व-त्योहार के दिन गाड़ी का चलना थोड़े न बंद हो जाता है। और वे यह सब इसलिए करते ताकि घर की खुशियां बनी रहें। पर दूबे जी की बाड़ी यानी कुंदन दूबे का वह आधा-अधूरा आशियाना, जिसके ऊपर 'विष्णुप्रिया' भवन अंकित था, अब दूसरे का हो चुका था। हालांकि मुहल्ले के लोग उसे अभी भी 'दूबे जी की बाड़ी' कहते थे।

इन तीनों उपन्यासों में नयी पीढ़ी के तीन अलग-अलग पात्र मौजूद हैं। *अशोक राजपथ* में जीवकांत, *अग्निलीक* में रेवती तथा *घर बदर* में कमल। यहां जीवकांत के आदर्श अलग हैं, रेवती के अलग और कमल के भी अलग। जीवकांत यही सोचता है कि वह ऐसी लड़ाई में क्यों शामिल हो जिसमें उसके विश्वास की हार निश्चित है। वह रीता अधिकारी की इन बातों से चकित है कि 'आदर्श-वादर्श कुछ नहीं होता। एक इल्यूज़न। नैतिक अवधारणा है बस।' इसीलिए उसके मन में इन चीज़ों से पलायन का विचार जन्म लेता है। रेवती भी अपना जीवन अपने आदर्शों के हिसाब से ही जीना चाहती है, पर अपने बाबा के प्रति उपजी भावनाओं के वश में आकर अपना फ़ैसला बदल लेती है और पंचायत की राजनीति में रम जाती है। हालांकि मनोहर के प्रति उसकी अपनी भावनाएं नहीं बदलतीं और उस रिश्ते को एक नाम देने के सवाल पर भी वह पीछे नहीं हटती, भले ही इसका मूल्य उसे चुकाना पड़ता है। *घर बदर* का कमल एक निम्नमध्यवर्गीय परिवार का लड़का है जो बहुत नीचे से उस स्तर तक पहुंचा है, इसलिए अपने पिता या परिवार के प्रति कभी वह अनादर का भाव लेकर खड़ा नहीं होता। कमल भी रेवती की तरह उस चौथी पीढ़ी का है जिसके सामने बदलती दुनिया के नये-नये सपने हैं। और भावनाओं में फंसकर वह उन सपनों की बलि नहीं चाहता। इसलिए उसका यह सोचना सही है कि ज़्यादा जड़ हो गयी चीज़ें मनुष्य के उत्कर्ष में हमेशा बाधक सिद्ध होती हैं। उसके पिता कुंदन दूबे पूजा-पाठ में डूबे रहकर भी संबंधों का कोई संसार नहीं गढ़ पाते। उसे बराबर लगता कि अगर ऐसा हुआ होता तो उनकी दुनिया ही अलग होती।

संतोष दीक्षित, हृषीकेश सुलभ और अवधेश प्रीत के ये उपन्यास लगभग एक ही समय में लिखे गये हैं, पर इनमें आये अलग-अलग कालखंडों के बहाने हमें अतीत की जड़ों की ओर झांकने का मौक़ा मिल जाता है। इन उपन्यासों में ऐसी पीढ़ियां मौजूद हैं जो हमें तत्कालीन समय की याद दिलाती हैं और एक बेहतर कल निर्मित करने की दिशा में मदद पहुंचाती हैं। जार्ज मूर कहते हैं कि 'उपन्यास जिस युग में हम जी रहे हैं, उसके सामाजिक परिवेश का बिल्कुल पूर्ण और सही-सही पुनर्निर्माण है।' इस लिहाज़ से इन उपन्यासों के जो निर्माणात्मक तत्त्व हैं, वे एक पाठक को बार-बार अपनी ओर लौटने को विवश करते हैं।

मो. 9934665938

पुस्तक संदर्भ

***अशोक राजपथ* : अवधेश प्रीत, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2018**

***अग्निलीक* : हृषीकेश सुलभ, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019**

***घर बदर* : संतोष दीक्षित, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2020**

आज के हिंदी उपन्यास के वर्णक्रम के दो छोर

विभास वर्मा

वंदना राग का, *बिसात पर जुगनू* तथा शिवेंद्र का *चंचला चोर*, ये दोनों उपन्यास पिछले दिनों प्रकाशित हुए। संरचना और कथ्य की दृष्टि से ये दोनों उपन्यास इतने भिन्न हैं कि हिंदी उपन्यासों के वर्णक्रम (स्पेक्ट्रम) में ये दो छोरों पर रखे जा सकते हैं। लेकिन इन्हें पढ़ने पर इस बात को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता कि जिन मूल्यों, चिंताओं को लेकर आज का हिंदी उपन्यास लिखा जा रहा है, वे मूल्य और चिंताएं इन दोनों उपन्यासों की सारी भिन्नताओं के बावजूद इनमें देखी जा सकती हैं। ये दोनों उपन्यास इस बात की भी तसदीक़ करते हैं कि इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासकार शिल्प और कथानक में नये प्रयोगों को लेकर काफ़ी सजग हैं। सशक्त स्त्री पात्र, पिछड़े समाजों की अंतरंग पहचान के साथ एक विवेकपूर्ण इतिहास-बोध इन दोनों उपन्यासों के कथ्य की विशेषता है । इन दो उपन्यासों की भिन्नता इन पर एक साथ बात करने का अवकाश नहीं देती, इसलिए इन दोनों उपन्यासों पर अलग-अलग बात करना ही उचित है।

1. *बिसात पर जुगनू* : सभ्यताओं का इत्तिहाद

> हम सब इत्तिहाद से बने हैं। हम सब में एक-दूसरे का कोई न कोई हिस्सा है। इनसान इस सच से रू-ब-रू हो जाये तो नक्शों में बनी सरहदों के बावजूद न कहीं जंग होगी न कोई नफ़रत और लालच की इंतेहाई दास्तान। इनसान यह जान लेगा तो यह भी जान लेगा कि अमन और मोहब्बत ही असल सम्त हैं। बाक़ी सब मायाजाल हैं। (पृ. 262, बिसात पर जुगनू)

आजकल चीन के साथ भारत के संबंध बड़े तनावपूर्ण बताये जा रहे हैं, लेकिन इन दो देशों की जनता और सभ्यताओं के संबंध सिर्फ़ आज की निगाह से तय नहीं किये जाने चाहिए। विश्व की इन दो प्राचीन सभ्यताओं के आपसी जुड़ाव के निशान कितनी ही चीज़ों में देखे जा सकते हैं। आज जब पूंजी की राजनीति ने अपने विस्तार के लिए 'सभ्यताओं के संघर्ष' का एक छद्म सा तर्क प्रचारित कर दिया है तो इस समय साहित्य यह ज़िम्मेदारी उठा रहा है कि लोगों को यह ध्यान दिलाये कि सभ्यता और संस्कृति आपसी मेल-मिलाप से, इत्तिहाद से ही विकसित हो पायी हैं। संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ भौतिक उपलब्धियां- कलाएं, इसका सबसे बेहतर प्रमाण हैं।

वंदना राग का उपन्यास, *बिसात पर जुगनू* में 1840 से 1910 के बीच के भारत और चीन के उथल-पुथल भरे इतिहास में बिखरे पात्रों की कहानियां हैं जो 2001 में आकर बड़े रोचक और लगभग चमत्कारी तरीक़े से आपस में जुड़कर एक हो जाती हैं। उस उथल-पुथल भरे दौर का इतिहास इन पात्रों के जीवन में तमाम उतार-चढ़ाव लाता है लेकिन ये पात्र उस अंधेरेभरे इतिहास की बिसात पर जुगनुओं की तरह सत्ता, पूंजी के लालच, शोषण और ग़ुलामी के अंधकार में अपनी मानवीय सदाशयता और उम्मीद की रोशनी से भरी टिमटिमाहट छोड़ जाते हैं। इस उपन्यास में विभिन्न देशकाल में बिखरे इन पात्रों की कहानियां एक दूसरे से काफ़ी अलग हैं, लेकिन ये सारी कहानियां उपन्यास में एक नाटकीय तरीक़े से अंत में सभी पात्रों के जीवन को जिस तरह से जोड़ती हैं उससे यह उपन्यास विभिन्न सरहदों और कालों के बीच धड़कती उस मानवता को व्यक्त कर पाता है जो देशकाल की सीमाओं से नहीं बंधती और जिसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति मानव ने अपनी कलाओं में की है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाणभट्ट के शब्दों में, 'नरलोक से किन्नरलोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है'। यह उपन्यास इस बात की गवाही देता है कि रागात्मक ही नहीं, बल्कि बंधनों को काट फेंकने को व्याकुल हृदय भी नरलोक से किन्नरलोक तक व्याप्त है और वह उसी रागात्मक हृदय का ही हिस्सा है। इस उपन्यास में बाबू कुंअर सिंह और होन्ग जी-क्वान से प्रेरित क्रमशः परगासो बीबी और यू-यान का संघर्ष असफल होकर भी इरादों को साकार होता देखने की उम्मीद कभी नहीं छोड़ता। इन दोनों का संघर्ष हिंदुस्तान और चीन में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रही जनता के संघर्ष की कहानी है। उपन्यास के प्रमुख वाचक फ़तेह अली ख़ान (जिसके रोज़नामचे को उपन्यास की मुख्य कथा का आधार बनाकर पेश किया गया है) के शब्दों में, '...मुल्क में एक परगासो बीबी होती हैं और चीन में एक यू-यान बीबी। दोनों की ज़मीन कितनी अलहदा लेकिन फ़ितरत कितनी एक-सी। ये बहादुर औरतें जंग में कितना कुछ हार गयी हैं, लेकिन फिर भी मुल्क की बेहतरी की चिंता करती हैं।' इन दोनों औरतों की समान फ़ितरत के मूर्त रूप हैं -फ़तेह अली ख़ान द्वारा बनाये गये इनके दो जुड़वां चित्र। ये चित्र पटना कलम शैली के चित्र हैं, जो शैली किसी भी महान कला-रूप की तरह इत्तिहाद से बनी है। उपन्यास में इस शैली के गुरु शंकर लाल की सोच को उद्धृत करें तो- 'यह अपने आप में अनूठी कला थी। कितने अलग तरह के लोगों के बीच इसका लालन-पालन हो रहा था। लोग जो कितनी सरहदें पार कर, अपने 'इलाक़ों से चित्रकला की कितनी ही भंगिमाएं लेकर आये थे। राजस्थानी शैली, पहाड़ी शैली, मुग़ल शैली और कंपनी शैली का अद्भुत मेल था इस कला में।' इस शैली के चित्र हैं- 'बिना पेचीदगियों, रेखाओं के सादे चित्र। रंगों के बने सादे चित्र। ज़िंदगी की नुमाइंदगी करते सादे चित्र। ज़िंदगी जीते जाते आम इनसानों के सच्चे चित्र। साफ़ कोरे काग़ज़ सी ज़िंदगी को बयां करता कोई जीवनोत्सव। कोई मेला। कोई रोज़गार। बुनियाद की ही सारी बातें। बुनियादी बातें। जिनके ऊपर तोताचश्मी का रंग न चढ़ा हो। …यह कला दुनिया के लिए थी। यही कला हर उस इनसान के लिए भी थी जो सीखना चाहे, उससे जुड़ना चाहे। कला आम जन के लिए। ...इस कला - पटना की इस कला का दुनिया के नाम यही

संदेश होगा –बक़ौल शंकर लाल।' उपन्यास में इक्कीसवीं सदी की शुरुआत की आहट पर चीन से एक शोध-छात्रा, ली-ना इसी शैली के उस चित्र की खोज में पटना आयी है जिसकी एक जुड़वां प्रति उसके पास भी है। ये चित्र उसके पूर्वज चिन के हैं जो फ़तेह अली ख़ान के साथ हिंदुस्तान आकर राजा सुमेर सिंह और परगासो बीबी का लख़्ते-जिगर कान्हा सिंह बन गया और पटना का मशहूर चिकित्सक बना। चिन कहता है- 'मैं कितने नसीब वाला हूं। मेरी दो मांएं और तीन पिता हुए।' तीसरे पिता फ़तेह अली ख़ान जो न उसे चीन के ख़तरों से बचाकर हिंदुस्तान लाते हैं और मायूसी के अंधेरों में घिरे सुमेर सिंह-परगासो की गोद में उजाले की तरह सौंपते हैं, बल्कि उसके उन चित्रों के मुसव्विर भी हैं जिन्हें खोजकर चिन की वंशज ली-ना कला की जोड़नेवाली ताक़त की पहचान करा पाती है। ली-ना भी उत्तर बिहार की एक छोटी रियासत चांदपुर के युवराज सुमेर सिंह और एक माली द्वारा पालित अनाथ परगासो दुसाधन की कहानियां अपने में अनोखी हैं। दोनों समाज द्वारा प्रदत्त औरत-मर्द की भूमिकाओं से अलग, लेकिन एक-दूसरे को अपनाने में कुल, हैसियत और समाज की सरहदों को मिटाकर एक दूसरे के बनते हैं। सुमेर की कोमलता और परगासों की दृढता और बहादुरी एक अनूठे संबंध की रचना करते हैं। अंग्रेज़ों के ज़ुल्म से परेशान होकर बाबू कुंअर सिंह के साथी बने सुमेर के पिता राजा दिग्विजय सिंह अनिच्छा से ही इस संबंध को स्वीकार कर पाते हैं, लेकिन परगासो उनकी लड़ाई को सच्चे उत्तराधिकारी की तरह आगे बढ़ाती है। वह चांदपुर की रियासत को भी संभालती है और अपने कोमलमना साथी सुमेर सिंह को भी। वह मरते दम तक आज़ादी के सपने देखना नहीं छोड़ती और आंखें बंद करने से पहले देश में आज़ादी की मांग के लिए फैली चेतना देख जाती है। ली-ना की नानी की नानी की बहन यू-यान अपने प्रेमी का साथ देने के लिए होन्ग जीक्वान के नेतृत्व में मांचू राजवंश के ख़िलाफ़ छेड़े गये ताइपिंग युद्ध की योद्धा बनती है जो विद्रोह के कुचले जाने, अपने पति और नेता के मारे जाने के बाद भी अपने मासूम बेटे के सुरक्षित भविष्य को लेकर आशावान है और उसके भविष्य के लिए दिल पर पत्थर रख उसे फ़तेह अली ख़ान के साथ भारत भेज देती है। इन दोनों औरतों की शख़्सियत की दृढ़ता, इनकी बहादुरी, सब्र और सारे उज्ज्वल गुणों का द्रष्टा है बचपन से अनाथ, नियति के थपेड़ों से भटककर पटना, चांदपुर, कलकत्ता से लेकर कैंटन तक का सफ़र करनेवाला नक़्शानवीस फ़तेह अली ख़ान जो अपने रोज़नामचे में अपने समय की तमाम हलचलों और उन सारी जगहों के इतिहास को दर्ज करता है जिसमें इन दोनों औरतों के चरित्र जुगनुओं से कहीं ज़्यादा चमकीले होकर बयां होते हैं। फ़तेह अली ख़ान का रोज़नामचा इस उपन्यास की आधिकारिक कथा कहता है। उपन्यास में इनके अलावा इस क़िस्से की बुनावट का एक और अहम हिस्सा पटना के लोदी कटरा के पास चित्रकला के उस्ताद शंकर लाल का मुसव्विरख़ाना है जो पटना-कलम के मुसव्विरों का आर्ट्स स्कूल है। इस कला के अभ्यासियों में रुकुनुद्दीन जैसे मुर्शिदाबाद से अंग्रेज़ों द्वारा बंगाल की की गयी बरबादी के निशान हैं तो विलियम स्टोन जैसे कला की दीवानगी में कंपनी बहादुर की नौकरी छोड़ आये फिरंगी भी हैं। रुकुनुद्दीन और विलियम स्टोन का कोमल संबंध रुकनुद्दीन के मन में फिरंगियों के प्रति बैठी नफ़रत और विलियम के प्रति उसके प्यार की उथल-पुथल का शिकार हो जाता है और रुकुनुद्दीन की रुग्णावस्था के मानसिक आवेश में इस संबंध का रक्तरंजित हश्र होता है। इस मुसव्विरख़ाने के उस्ताद शंकर लाल और उसकी एकलव्य समान शागिर्द ख़दीजा बेगम की प्रेमकथा भी कला को समर्पित दो कलाकारों की दुर्भाग्यपूर्ण कथा है। शंकर लाल का अपनी कला के प्रसार की चिंता उसे चीन जाने को उकसाती है लेकिन वह कलकत्ते में ही फिरंगियों द्वारा ग़लतफ़हमी में क़ैद कर लिया जाता है और ख़दीजा बेगम उसके इंतज़ार और मुसव्विरख़ाने के मुस्तक़बिल की चिंता में इस कला के उज्ज्वल भविष्य का सपना आंखों में लिये अपने दुःखद अंत तक पहुंचती हैं। शंकरलाल के परिवार का कला के बारे में जो रवैया है वह प्रायः सभी मध्यवित्त उत्तर भारतीय परिवारों का कला के प्रति रहा है। अपनी संतान को इस कला का वारिस बनाने का उनका अधूरा सपना कुछ पीढ़ियों के बाद ही किसी तरह पूरा हो पाता है। ये बिखरी कहानियां यातना और संघर्ष से भरी हैं लेकिन ये पात्र स्वप्न देखना नहीं छोड़ते। विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में भी जीवन के प्रति उम्मीद नहीं छोड़ते। कला उन्हें सुकून देती है। यह ध्यातव्य है कि उपन्यास में जीवन की परेशानियों के हल के रूप में कला को नहीं, बल्कि संस्कृति की उस दृष्टि को लिया गया है जो यह बताती है कि जीवन मेलजोल से आगे चलता है, नफ़रत और अलगाव से नहीं। कला यह दिखाती है कि कैसे दो अलग से रंग, सुर या शैलियां मिलकर नये सौंदर्य की सृष्टि करती हैं। तहजीबें भी इसी तरह आगे चलती हैं। शंकर लाल एक अभिभूत से क्षण में यह देख पाते हैं कि 'कला और जीवन जब तहजीबों से घुलना-मिलना सीखेंगी तभी वे दुनिया को नयी राह पर लिये चलेंगी।' शंकर लाल की यह आकांक्षा अभी तक पूरी नहीं हो पायी है। सत्ता और पूंजी की ताक़तें तहजीबों के नाम पर लोगों को एक-दूसरे से लड़ा रही हैं। शंकर लाल, परगासो, यू-यान और फ़तेह अली ख़ान के ख़्वाब काफ़ी हद तक अभी तक अधूरे हैं।

चांदपुर, कैंटन और पटना के तीन परिवारों के अधूरे-पूरे ख़्वाबों की यह कथा है जिनके बीच का धागा फ़तेह अली ख़ान है। उपन्यासकार ने एक कालक्रमिक तरीक़े से इन परिवारों के जीवन-संघर्ष को न दिखलाते हुए देश-काल के भिन्न भिन्न धागों को बेतरतीब से प्रतीत होने वाले क्रम में रख दिया है। लेकिन यह क्रम इतना बेतरतीब भी नहीं है। उपन्यास की शुरुआत फ़तेह अली ख़ान के रोज़नामचे से होती है जो दरअसल उसकी चांदपुर यात्रा की शुरुआत भी है। साथ ही समय के दूसरे छोर से ली-ना की भारत यात्रा की शुरुआत होती है। समय के इन दोनों छोरों से शुरू हुई घटनाएं सिर्फ़ रोज़नामचे और ली-ना के सफ़र के ब्यौरों से कही जा सकती थी, पर शंकरलाल के मुसव्विरख़ाने की कथा तब अनकही रह जाती। इसलिए एक बयान इन दोनों कथा-सूत्रों के साथ मुसव्विरख़ाने का भी है। कथानक की इस पूरी योजना में इतिहास के तथ्य, *कलकत्ता जर्नल* अख़बार के समाचारों और संपादकीय टिप्पणियों से भरे गये हैं। ये टिप्पणियां और ख़बरें असली होने का शक पैदा करती हैं। उपन्यासकार का इतिहासबोध और व्यापक शोध इस काल्पनिक कथा को ऐतिहासिक गरिमा देता है। उपन्यास का सबसे सशक्त पक्ष उसके पात्रों का चित्रण है। जिन मुख्य पात्रों का नाम ऊपर आया है उसके अलावा रुकुनुद्दीन, विलियम स्टोन जैसे चित्रकार, सुमेर सिंह को बचपन से नशें का आदी बनानेवाला हरिया, सूर्य दरबार जहाज़ का कप्तान मास्टर, परगासो को पालनेवाले माली और पंडित, शंकर लाल के वंशज सुंदर लाल और समर्थलाल- ये सभी बेहद विश्वसनीय बन पड़े हैं। उपन्यास

का वितान व्यापक है फिर भी उपन्यास को तीन किताबों में कालक्रम के हिसाब से बांटने का औचित्य पता नहीं चलता। क्योंकि कालक्रम में व्यवधान देती ली-ना की कथा तीनों किताबों में मौजूद है। जितने रचाव और सधे तरीक़े से चांदपुर की कथा कही गयी है, मुसव्विरख़ाने में ब्यौरों की जिस कुशल बारीक़ी के साथ कहानी कही गयी है,उसके मुक़ाबले कैंटन की कथा भागती हुई लगती है, उसमें ब्यौरे उस सधे तरीक़े से रचे नज़र नहीं आते और ऐसा लगता है कि उपन्यासकार अब निपटा देने की हड़बड़ी में है। *कलकत्ता जर्नल* अख़बार की कई ख़बरें भी अनावश्यक लगती हैं। जिस प्रयत्न और वैचारिक सफ़ाई से उपन्यास की संरचना का ख़ाक़ा तैयार हुआ है, कई जगह उसकी तामीर में झोल नज़र आता है। संभव है कि यह सब पाठकीय रुचि के कारण भी नज़र आये। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने समग्र प्रभाव में यह उपन्यास लगभग एक गहन ऐतिहासिक अनुभूति को रचता है और अंध-राष्ट्रवाद के इस व्यथित समय में कलाओं में प्रकट होनेवाली समग्र मानवीयता की कहानी कहकर मनुष्यता के भेदभावों और भेदक रेखाओं की व्यर्थता को सामने लाता है।

> कला में ही हम दोनों का जीवन है। वही हमारी प्राणशक्ति है। कला ही सबको जोड़ती है। हर एक दिल को दूसरे दिल से।
> इसके अलावा सब कुछ बेमानी है!'
>
> (पृ. 279, वही)

ली-ना की खोज पूरी होती है लेकिन समाप्त नहीं क्योंकि कलाओं में व्यक्त होनेवाली इस मानवता का ख़तरा अभी भी बरक़रार है।

2. *चंचला चोर* : स्मृति और सपनों से बुनी एक यथार्थ-कथा

शिवेंद्र का उपन्यास, *चंचला चोर* कथानक में एक साहसिक प्रयोग है। इसके कथानक के बारे में कुछ कहने से पहले वैसा ही 'स्पॉयलर एलर्ट' दे देने की आवश्यकता महसूस होती है जैसा रहस्य आधारित कथानकों या फ़िल्मों के बारे में कुछ कहने से पहले देने की प्रथा है। यानी यह चेतावनी कि यदि किसी ने यह उपन्यास नहीं पढ़ा है तो समीक्षा में जो कहा जा रहा है उससे बाद में उपन्यास के कथानक में निहित राज़ खुलता है जिसके कारण उसे पढ़ने का आनंद बाधित हो सकता है। यानी इस उपन्यास की संरचना एक सुराग़रसा या रहस्यमय उपन्यास की है, जिसमें आगे घटित होने वाली घटना के ज्ञान पर ही उपन्यास की पठनीयता टिकी रहती है। लेकिन इस उपन्यास की पठनीयता महज घटनाओं की मुहताज नहीं। इसका कथ्य नहीं बल्कि इसके कथानक की संरचना रहस्यमय उपन्यास की तरह है जिसमें 'चंचला चोर' जो उपन्यास के नायक (?)/वाचक के सपनों में उसे दिखती है, उसका रहस्य जानने, उसे खोज निकालने की कथा केंद्रीय है। चंचला, जो लाल फ़ीते की दो चोटियों वाली आठ साल की लड़की है, उसे खोज निकालना इसलिए भी नायक/वाचक के लिए अस्तित्व-अनस्तित्व का प्रश्न बन जाता है क्योंकि वही जानती है कि वाचक को महीना क्यों नहीं आता (??)। मुंबई के फ़िल्म-जगत में सहायक निर्देशक के तौर पर अपना मुक़ाम बनाने की कोशिश में लगा यह वाचक इस खोज में अपने पिछले देशकाल की यात्रा पर निकल पड़ता है कि चंचला जो उसे सपने में दिखती है, किसकी छवि या स्मृति है या कौन है, जो अमरूद के पेड़ पर चढ़कर इमली खाती है और अपनी लाल फ़ीते से बंधी दो चोटियां हिलाती रहती है। उसके जीवन में बचपन से अब तक आनेवाली तमाम लड़कियों और औरतों –जो चंचला हो सकती हैं, के पास वह अपने मन की टाइम मशीन से जाने का प्रयत्न करता है और इस तरह उपन्यास में कई ऐसे अनूठे अधूरे-पूरे स्त्री-चरित्रों की आमद होती है जिन सब में चंचला कहीं थी। इनमें मुंबई की उसकी प्रेमिका सनम है, उसके गांव की 'सखी' है, वाचक की आजी हैं, गांव में कभी स्कूटी पर घूमनेवाली अपने कामरेड मित्र की 'वैधानिक हत्या' से नीम-विक्षिप्त हो चुकी गांव के मार्क्सवादी पुजारी सनिचरा बाबा की बेटी क्रांति है, ननिहाल के रिश्ते से उसकी मौसी लगती बचपन की मित्र शोभा है जिसने आत्महत्या कर ली थी और वाचक की मां है। इन सबमें चंचला को ढूंढ़ने के प्रयासों में लगे वाचक को उसकी सखी यह सुझाती है- 'हो सकता है कि चंचला सिर्फ़ एक लड़की न हो बल्कि हर लड़की का वह एक बचपन हो जो उससे छीन लिया जाता है।' उपन्यास के ताने-बाने में आती इन तमाम स्त्रियां के सपने, इच्छाएं और जीवन कहीं न कहीं अधूरे रह गये हैं। जो व्यवस्था इस समाज ने तैयार की है उसके कारण यह अधूरापन उनकी नियति बन जाता है चाहे वे सनम की तरह महानगरों की रहनेवाली हों, या गांव-क़स्बों की। वाचक जिस बात को अपने जीवन में बीती किसी घटना से संबद्ध मानकर चल रहा है वह हर लड़की का इतिहास और वर्तमान है। यह तथ्य वाचक को एक अनिवार अपराधबोध से भर देता है। यह अपराधबोध उसका व्यक्तिगत अपराधबोध नहीं रह जाता।

> हम सब मिले हुए हैं सखी' –मैं हुड़क-हुड़क कर रोता रहा...' कितनी ही लड़कियां थीं जो अंतरिक्ष में जा सकती थीं, हिमालय को हरा सकती थीं, फ़िल्में बना सकती थीं, पर उनकी ज़िंदगी आलू-गोभी बनाने में ही ख़त्म हो गयी। जो देश-दुनिया को दिशा दे सकती थीं वे रोटी बेलती रहीं, जिनका प्रेम इस दुनिया को और ख़ूबसूरत बना सकता था उन्होंने ज़हर खा लिया, जो अकेले रहकर धरती को थाम सकती थीं हमने उन्हें बदचलन बना दिया।

उसे अपने आसपास के ऐसे तमाम प्रसंग याद आते हैं, जहां औरतों को पुरुषों की इच्छाओं के लिए बल से, छल से गढ़ा जाता रहा।

> तब मैं यह देख पाया कि यह पृथ्वी हम जिसे अपना घर कहते हैं, दरअसल यह सुनार की एक बहुत बड़ी भट्ठी है, जहां लड़कियों को पिघलाया जा रहा है, मनचाहे सांचे में ढाला जा रहा है, महीन और पैने औजारों से तराशा जा रहा है और फिर उन्हें छोटी-छोटी झिल्लियों में पैक करकर बिकने के लिए टांग दिया जा रहा है और हम समाज और परिवार में रहनेवाले इंसान उनके ग्राहक भर होके रह गये हैं...शर्म से सिहरकर मैंने अपना मुंह दूसरी ओर कर लिया-

पर यह सवाल रह जाता है कि वह चंचला उसे ही क्यों दिख रही है? और उसकी खोज अपने अतीत की उन लड़कियों की तलाश करने में लगती है जिनका बचपन शायद उसकी वजह से छीना गया हो। सपने की खोज में मन की टाइम मशीन से अपने गांव के लोगों तक वाचक का पहुंचना-बतियाना लगभग लोककथाओं के शिल्प में होता है जहां कथाएं महज कथाएं नहीं होतीं वास्तविकता के ऊपरी नियमों से आज़ाद जिनकी दुनिया में पशु-पक्षी, पेड़-पौधे सभी पात्रों की तरह सहभागिता निभाते हैं। मन के साथ घूमता वाचक सर्वदा संवाद में रहता है, दूसरों से भी और अपने से भी।

इन्हीं संवादों में इस उपन्यास की संवेदना विस्तार पाती है। वह अपने अतीत और अपने भूगोल में जैसे-जैसे वापस जाता है अपने गांव-ननिहाल की दुनिया में, वह परखता है उन क्रूरताओं को जो पुरुष होने के नाते उसके लिए दृश्य थीं और उसके जीवन में आनेवाली औरतों के लिए जीवन का सच। कई अनसुलझे सवाल हल होते हैं, कई अनजाने राज़ खुलते हैं। गांव जो उसके लिए अधिवास की तरह है, उसके बचपन और उसकी स्मृतियों की दुनिया- वह देखता है कि कैसे गांवों में 'सबकुछ कितना खुला- खुला है...बस विचार नहीं। बाहर से यहां क्या-क्या नहीं पहुंच गया है—सड़क, गाड़ी, मोबाइल, जींस, अंग्रेज़ी, आधुनिकता(?) मगर एक भी बुरी चीज़ यहां से अब तक नहीं हटी—छुआछूत, जातपात, दहेज।'

वह बचपन में सुनी लोककथाओं के आकर्षण और उनमें निहित संकेतों को समझने की कोशिश करते हुए इस बोध तक पहुंचता है कि 'हमें शुक्रगुज़ार होना चाहिए कि हमारे पास कहानियां हैं। वे हमें भटकाव से बचाती हैं और उस समय हमारा रास्ता बनती हैं जब हमारे पास और कोई रास्ता नहीं बचा होता। युगों के अनुभव, पीढ़ियों के विचार और मनुष्यों की संचित संवेदना को व्यक्तिगत या सामूहिक कल्पना के सूत में पिरोकर एक कहानी बनती है...इसलिए जो समाज कहानियों से किनारा करता है, वह भटक जाता है और हर कोशिश के साथ अपनी समस्याओं को और जटिल बनाता जाता है।' लेकिन स्मृतियों और विचारों के परस्पर संवाद के दौरान उसके अंदर यह भी सवाल उठता है कि 'क्या लोककथाएं केवल पुरुषों की चाहतों, उसके संघर्षों और उनके पा लेने की कहानियां हैं? और उसमें स्त्रियों के सपनों और उनकी समस्याओं के लिए कोई स्थान ही नहीं है?' उपन्यास में यह यात्रा मन की यात्रा है जो लोककथाओं के शिल्प से विकसित होती है लेकिन इस मन की यात्रा को देखता, विश्लेषित करता, उसकी गुत्थियां सुलझाता वाचक का भी एक रूप है जो लोककथाओं के गैर-यथार्थवादी शिल्प का रूप लेते इस उपन्यास का एक छोर यथार्थ की भूमि से जोड़े रखता है। इस तरह *चंचला की खोज* की यह कथा कई पात्रों से, और सामाजिक-मनोवैज्ञानिक जटिलताओं से दो-चार होते चलती है। इस कथा की संरचना को रहस्य-कथा की संरचना इसलिए कहा जाना चाहिए क्योंकि *चंचला की खोज* किसी अमूर्तन या प्रतीकात्मकता पर ख़त्म नहीं होती। वाचक वाक़ई उस चंचला को सामाजिक और मानसिक गुहांधकार से भटकते हुए भी अपनी स्मृतियों के घटाटोप के पार जाकर खोज लेता है और जिस तरह किसी जासूसी उपन्यास में घटनाओं की अचूक और सटीक तार्किकता किंवा कार्य-कारण संबंध होता है, वैसी ही सटीकता चंचला की पहचान में दिखती है। लेकिन चंचला की खोज के साथ उपन्यास खत्म नहीं होता क्योंकि चंचला की खोज तो इसलिए ज़रूरी है वाचक के लिए कि चंचला उसे बता सके कि उसे माहवारी क्यों नहीं आती? जिस बात के लिए उसके घरवाले इतना परेशान रहते थे कि वह उनके इलाजों, झाड़-फूंक आदि से बचने के लिए मुंबई भाग आया था। यह राज़ जब खुलता है तो उपन्यास की संरचना एक दूसरा ही रूप ले लेती है।

उपन्यास में सपनों, कथाओं और स्मृतियों की इतनी चर्चाओं का एक और ही संदर्भ सामने आता है। जो सपना वाचक को इस यात्रा पर ले जाता है, उस सपने की खोज वाचक को ही एक सपना बना जाती है। इससे अधिक इस संबंध में कुछ बताना 'स्पॉयलर एलर्ट' को भी पार कर जाना होगा। लेकिन यह कहा जाना चाहिए कि शिवेंद्र की शिल्प पर अद्भुत पकड़ है। रहस्य-कथा की संरचना को बनाये रखते हुए भी जिस तरह से यह कथा अपनी पूरी संरचना को बाद में औंधा खड़ा कर देती है वह क्रिस्टोफर नोलान की *मोमेंटो, इनसेप्शन, इन्टरस्टेलर* जैसी फ़िल्मों की ग़ैर-परंपरागत आख्यान-संरचनाओं का स्मरण कराती है। स्मृति, स्वप्न, मनोविकारी गुत्थियां, वैयक्तिक अस्मिता, कथा आदि की प्रकृति की पड़ताल करते हुए जिस तरह शिवेंद्र स्त्री के शोषण, अस्मिता, आकांक्षा और स्वप्नों के सामाजिक-ऐतिहासिक यथार्थ को ज्ञान-मीमांसात्मक थीम पर ले आते हैं वह बेहद सधे शिल्प की मांग करता है। लेकिन शिवेंद्र शिल्पवादी या कलावादी नहीं हैं। इस उपन्यास के संबंध में कलावाद का सवाल ही बेमानी है। उपन्यास की भाषा लोककथा, कविता और नाटकीयता के मेलजोल से रची गयी है जिसमें उत्तर भारत के पूर्वांचल के गांवों की महक भी घुली-मिली है। कुछ जगहों पर वाचक के आत्मालाप भाषण या निबंधों का रूप लेते लगते हैं लेकिन कुल मिलाकर अपनी संरचना के नयेपन से चमत्कृत करते हुए भी यह उपन्यास हमारे समाज के उन पहलुओं को हमारे ज़ेहन में नये तरीक़े से जागृत करने में सफल रहता है जो साहित्य के सरोकारों का अंग रहे हैं।

मो. 99682 81417

पुस्तक संदर्भ

***बिसात पर जुगनू* : वंदना राग, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, 2020**
***चंचला चोर* : शिवेंद्र, आधार प्रकाशन, पचकूला, 2019**

हमारे समय की गवाही

संजीव कुमार

योगेंद्र आहूजा और राकेश तिवारी, दोनों हमारे समय के अनिवार्य कहानीकार हैं—ऐसे कहानीकार जिन्हें छोड़कर आज के कथा-परिदृश्य पर बात करना संभव नहीं। दोनों के ताज़ा संग्रहों—क्रमशः *लफ़्फ़ाज़ और अन्य कहानियां* तथा *चिट्ठी ज़नानियां*—के आने के पहले से इनके पास एकाधिक कहानियां ऐसी हैं जिन्हें असाधारण कहा जा सकता है। योगेंद्र आहूजा की 'मर्सिया', 'पांच मिनट', 'स्त्री विमर्श', 'खाना', 'ऐक्कयुरेट पैथोलॉजी' और राकेश तिवारी की 'मुकुटधारी चूहा', 'मुर्गीखाने की औरतें', 'कठपुतली थक गयी' बार-बार पढ़ी जाने लायक़ कहानियां हैं। मज़े की बात यह है कि ये दोनों अपने सरोकारों में गहरी समानता रखते हुए भी कहानी-कला की दृष्टि से बिल्कुल अलहदा हैं। योगेंद्र की कहानियों में जहां वाचक बहुत मुखर है और पाठक कार्यव्यापार से ज़्यादा वाचक के आविष्ट कथनों या भाष्यों में रुचि लेता है, वहीं राकेश के यहां ओवर्ट नैरेशन और वाचकीय टिप्पणियां कहीं कम तो कहीं बहुत कम हैं और कहानी में आपकी रुचि ज़्यादातर अनखुली-अधखुली बातों के नियंत्रित उद्घाटन पर निर्भर करती है। योगेंद्र की कथाभाषा आविष्ट और बिंबधर्मी है, तो व्यंग्य और इशारे राकेश की कथाभाषा की विशेषता हैं। योगेंद्र की कहानियों का बर्ताव गुरु-गंभीर है और एक तरह से वहां हंसने या मज़े लेने की मनाही है, वहीं राकेश के कथा-बर्ताव में अक्सर एक खिलंदड़ापन मिलता है जो कहानी पढ़ते हुए लगातार गंभीर बने रहने से आपको रोकता है। ग़रज़ कि दोनों दो तरह की कहानी-कला के प्रतिनिधि ठहरते हैं। पर इनमें एक गहरी समानता अपने समय के नये उद्विकासों के प्रति तीक्ष्ण संवेदनशीलता के रूप में दिखायी देती है। दोनों की कहानियां अपने समय के राजनीतिक खेलों, व्यवस्था की चालाकियों और उनके व्यापक प्रभावों की गहरी समझ का प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। साथ ही, इन्हें स्थूल विवरणों में पेश करने से दोनों के यहां परहेज़ है। मानवीय संबंधों के सूक्ष्म तंतुओं का स्पर्श करने की सलाहियत भी दोनों के यहां अपने उत्कर्ष पर देखी जा सकती है। इसके साथ-साथ, अपनी-अपनी वजहों से दोनों की ज़्यादातर कहानियां एक पढ़त में पूरी ख़र्च नहीं होतीं और दुबारा पढ़ने का दबाव बनाती हैं।

योगेंद्र आहूजा के नये संग्रह *लफ़्फ़ाज़ और अन्य कहानियां* में तीन लंबी कहानियां हैं और तीनों तीन तरह की हैं। 'लफ़्फ़ाज़' का केंद्रीय चरित्र लफ़्ज़ों से खेलने वाला एक पेशेवर ठग है जो अपनी बोली से लोगों का विश्वास और दिल जीतना जानता है। वह बाबरी मस्जिद गिराने वालों की तरफ़ से भी उत्तेजक भाषण दे सकता है और उसके तुरंत बाद सांप्रदायिकता-विरोधी मुहिम का हिस्सा बनकर दिलों को जोड़ने का आह्वान भी कर सकता है। बैंक मैनेजर का विश्वास जीतकर, ग़लत नाम और पते से, सार्वजनिक भलाई के बड़े कामों के लिए लोन ले लेना और फिर चंपत हो जाना, जवानी और जोश की दवाएं बेचने वाला हकीम बनकर कमाई करना—ये सब इस व्यक्तित्व की विशेषताएं हैं। प्रथम पुरुष वाचक एक लंबी समयावधि में उसके सारे धंधों और उसकी केंद्रीय दक्षता से परिचित होता जाता है। कहानी में उसका दिखना और छिपना चलता रहता है। अंततः लंबे अंतराल के बाद वाचक की तलाश ख़त्म होती है। लफ़्फ़ाज़ नाम के इस आदमी से उसकी वृद्धवस्था में उसके घर पर वाचक की मुलाक़ात होती है। वाचक बहुत व्यग्रता से इस दिन की प्रतीक्षा कर रहा था कि यह अवसर आये और उस शख़्स से पूछा जाये कि क्या उसके अपने भी कुछ विश्वास हैं, कोई जीवन-दर्शन है? आख़िर वह है कौन? उसे सीधा और साफ़ उत्तर मिलता है, 'एक लफ़्फ़ाज़, बस।'

'लफ़्फ़ाज़' जब आप पढ़ना शुरू करते हैं तो काफ़ी दूर तक यह व्यक्ति-वैचित्र्य की कहानी लगती है, पर धीरे-धीरे इसका विचित्र केंद्रीय चरित्र हमारे समय के प्रतिनिधि चरित्र के रूप में उभर आता है। यह इस कहानी की बड़ी विशेषता है और कथा का विस्तृत प्रक्रिया-पक्ष हमारे अंदर इस चरित्र की प्रातिनिधिकता के इसी अहसास को उभारने की साधना है। राजनीति से लेकर समाज और अर्थतंत्र तक जैसी वाग्मितापूर्ण ठगविद्या पसरी हुई है, लफ़्फ़ाज़ नाम का चरित्र गोया उसका सारकृत द्रव्य/कॉन्सेंट्रेट है जहां शब्दों की शानदार ठगी अपनी उच्चतम डिग्री में है। यह विस्तृत प्रक्रिया-पक्ष, जिसमें कई तरह के प्रसंग और विवरण हैं, अगर न होता तो विचित्र से प्रतिनिधि तक की यह यात्रा न हो पाती। किंचित आश्चर्यजनक है कि वैभव सिंह ने *पल प्रतिपल* के एक अंक में योगेंद्र आहूजा पर लिखते हुए इस कहानी में 'बहुत सारे फ़ालतू विवरण और विस्तार' की शिकायत की है जिन्हें 'संपादित करके हटाया जा सकता था'।

उन विवरणों को 'फ़ालतू' मानकर हटा देने का मतलब है, ऐसे अंशों को हटा देना जिनमें कहानी की जान बसी हुई है। 'लफ़्फ़ाज़' उन कहानियों में से है जिनकी जान प्रक्रिया-पक्ष में बसती है, परिणति-पक्ष में नहीं। बहरहाल, यह लंबी बहस का विषय है और इसे एक समीक्षा में निपटाने का मेरा कोई इरादा नहीं।

संग्रह की दूसरी कहानी 'मनाना' भी प्रेम, बचपन और हिंसा के सूक्ष्म अंकन तथा सिनेमैटिक प्रभाव उत्पन्न करने वाले वातावरण निर्माण के कारण असाधारण हैं। पर तीसरी कहानी 'डॉग स्टोरी' संभवतः संग्रह की सबसे दीर्घजीवी कहानी है। घोषित रूप से इस 'बच्चों की कहानी' पर थोड़े में कुछ भी कहना मुश्किल है, पर यह तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि गली के एक कुत्ते को वाचक बनाकर वर्गीय समाज का और बुद्धिजीवियों-पत्रकारों के ख़िलाफ़ उभरी हत्यारी असहिष्णुता का जैसा प्रभावशाली चित्रण इस कहानी में हुआ है, वह दुर्लभ है। यह योगेंद्र की कहानियों में शायद सबसे सुगठित भी है, इस लिहाज से कि इसमें कथा का सघन प्रक्रिया-पक्ष उसे जिस परिणति तक ले जाता है, उसमें एक स्पष्ट उठान और क्लोज़र है जो पाठक को कहानी के मुक़म्मल होने का संतोष देता है। कहानी के अंत में बस्तियां जलाने वालों और जनपक्षधर बुद्धिजीवियों की हत्या करने वालों के ख़िलाफ़ कुत्ते अपने को तैयार करते हैं और एक फ़ैसलाकुन घड़ी के आगमन की सूचना के साथ कहानी ख़त्म होती है। यहां तक आते-आते गली के कुत्ते एक बहुत विराट, सजग सर्वहारा का प्रतीकार्थ भी ग्रहण कर लेते हैं जो कहानी को नयी ऊंचाई तक ले जाता है। कहानी के अंत से यह थोड़ा लंबा अंश देखा जा सकता है:

> रात की सबसे खामोश घड़ी में, फ़ैक्ट्री के अहाते में पिघली हुई ईंटों, लक्कड़ पत्थर, छेने, हथौड़े और जाली हुई मशीनों के ढेर के बीच सोते हुए मुझे बहुत दूर एक जीप की आवाज़ सुनायी दी, क़रीब आती हुई। मैंने नींद में ही पहचान लिया, यह फिर वही अजाब था, वही जीप, वही तबाही का इरादा, वो ही साये, दस्ताने। पास आती आवाज़ ने बताया कि सिर्फ़ एक नहीं, बहुत सारी जीपें थीं, बहुत सारे कट्टे, मिट्टी के तेल के बहुत सारे कनस्तर। मैंने कुछ दूरी पर सो रहे सिकंदर की गर्दन पर हौले से अपने नाख़ून गड़ाकर उसे जगाया, कहा – वे आ गये।
>
> थर्राते तारों और बहुत बारीक़ चांद के नीचे तमाम कुत्तों ने धीरे-धीरे आंखें खोलीं। हमारा 'सेनापति' सिकंदर एक-एक के पास जाकर उनके कान में कहता रहा – उठो प्यारे शेर, वक़्त आ गया। शायद कोई नींद में कुनमुनाया होगा, जिसे जगाने के लिए उसने अधीर होकर जो कहा, मैं दूर से सुनता रहा – जल्दी, दोस्त, इसलिए कि कभी-कभी थोड़ी देर का मतलब हो सकता है बहुत देर, हमेशा के लिए।

राकेश तिवारी के संग्रह *चिट्टी ज़नानियां* में मझोले आकार की दस कहानियां हैं। इनमें से 'चिट्टी ज़नानियां', 'कीच' और 'मंगत की खोपड़ी में स्वप्न का विकास' निस्संदेह यादगार कहानियां हैं। बाद की दोनों कहानियां बहुत तीखे ढंग से हमारे समय की घिनौनी राजनीति को सामने लाती हैं। 'मंगत की खोपड़ी में स्वप्न का विकास' शीर्षक में आया हुआ 'विकास', इस शब्द के साथ पिछले कुछ वर्षों में राष्ट्रीय स्तर पर जो मज़ाक़ हुआ है, उसकी ओर इशारा है। कहानी के मुख्य पात्र, फ़ुटपाथ पर सिलाई मशीन लेकर बैठने वाले मंगत को एक दिन ब्रह्ममुहूर्त में कहीं पांच सौ का नोट पड़ा मिल जाता है। उसके चार दिन बाद कुछ ऐसा होता है जिससे उसके अंदर अपने उज्ज्वल भविष्य की ग़लतफ़हमी जन्म ले लेती है। एक सामाजिक कार्यकर्त्ता टाइप आदमी उससे मेहनताने के बारे में मोल-तोल करता हुआ उसके मुंह से ग़रीबी का हवाला सुनकर कहता है, 'अबे काहे का ग़रीब? अब तुम्हारे दिन भी फिरने वाले हैं।' फिर वह उसे ऐसा मंत्र पढ़ाता है कि उसके मन में 'अच्छे दिन' आने की अतार्किक बात जड़ें जमाने लगती है। उसे लगता है कि चार दिन पहले पांच सौ का नोट मिलना अच्छे समय के बयाना-पेशगी जैसा ही था। वाचक स्पष्ट शब्दों में यह बताता नहीं कि उसे उस 'छुटभैये नेता या धार्मिक-सामाजिक कार्यकर्त्ता' ने क्या पट्टी पढ़ायी थी, पर पाठक को समझने में कोई कठिनाई नहीं होती कि वह सपने दिखाने वाले अभी के निज़ाम की धोखेबाज़ भाषा ही बोल रहा होगा, जिसके झांसे में देश की जनता का एक बड़ा हिस्सा आ गया है। 'बस यहीं से शुरुआत हुई थी विकास का सपना देखने वाले लोकतंत्र के एक निरीह नागरिक की खोपड़ी में स्वप्न के विकास की।' आगे की घटनाएं बहुत मार्मिक तरीक़े से इस झांसे में आकर अपनी तर्कबुद्धि खो बैठने की त्रासदी को बयान करती हैं। हमारे समय के आम आदमी की पीड़ा मंगत और उसके परिवार की दुर्दशा के वर्णनों में साकार हो गयी हैं।

मौजूदा निज़ाम का ही एक दूसरा पक्ष, अभिव्यक्ति पर हमला करने और 'लव-जेहाद' के नाम पर उत्पात मचाने वाला फ़ासिस्ट चरित्र, 'कीच' कहानी में सामने आया है। पूरी कहानी इशारों में चलती है और उनसे ही हमारे समय का वह पूरा परिदृश्य उभर आता है जिसमें हिंसक 'भक्तों', बाबाओं और सांप्रदायिकता को भुनाने वाले नेताओं की कारस्तानियां लगातार जारी हैं। आलोचनात्मक सोच रखने वाले मुट्ठी भर लोग अलग-थलग पड़े हैं और उनका प्रतिनिधित्व करने वाला पात्र गुच्ची पागल समझा जाता है। इशारों में चलना इस कहानी की शक्ति भी है और सीमा भी। हो सकता है, पहली पढ़त में आपको कुछ दूर तक इसकी हवा

ही न लगे कि कहानी में आख़िर चल क्या रहा है! पर एक बार ख़त्म करके दुबारा शुरुआत करने पर सभी संकेत अपनी गिरहें खोलने लगेंगे और आप कहानीकार के अंदाज़े-बयां पर वारी जायेंगे। अर्थ की पहली परत के लिए भी दुबारा पढ़े जाने की यह अपेक्षा कहानी में निहित होना अच्छी बात है या नहीं, इसके बारे में मैं किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाया हूं। अलबत्ता यह ज़रूर कहा जा सकता है कि सामान्यतः दूसरी पढ़त का प्रयोजन अर्थ की पहली परत से नीचे उतरना ही होना चाहिए।

यह बहुत दिलचस्प है कि राकेश तिवारी के यहां संवेदनशील, समझदार और आलोचनात्मक सोच रखने वाले तार्किक लोगों को आम आदमी की निगाह में पागल ठहराया जाना एक मोटिफ़ की तरह आता है। उनके उपन्यास *फसक* में प्रेम प्रकाश पंत और लाल बुझक्कड़ ऐसे ही पात्र हैं। समीक्ष्य संग्रह की कहानियों में 'कीच' के अलावा 'चिट्टी ज़नानियां'और 'ख़तरनाक' में भी संवेदनशील और मानवीय गुणों से परिपूर्ण लोग दूसरों की निगाह में पागल हैं। गोया तार्किकता और संवेदनशीलता जैसे गुण, जो अच्छेपन की कसौटी हुआ करते थे, अब विचित्रता या ऐबनॉर्मैलिटी के लक्षण बन गये हैं। 'चिट्टी ज़नानियां' तो इस लिहाज़ से अद्भुत कहानी है, जिसमें मतलबी प्रकृति के प्रथम पुरुष वाचक को स्वार्थ से परे, पारिवारिक संबंधों के प्रति समर्पित चार स्त्रियां बिल्कुल समझ में नहीं आतीं और वह उन्हें असामान्य मानता रहता है। वाचक के चरित्र, और वह ज़मीन का ग्राहक बनकर जिन स्त्रियों के घर पहुंचा है, उनके चरित्र को आमने-सामने रखती यह कहानी अपनी मार्मिकता और बारीक़ी में असाधारण है।

कहने की ज़रूरत नहीं कि 2020 में छपे ये दोनों कहानी-संग्रह ऐसे हैं जिनकी ओर साहित्यिक समाज का ध्यान जाना चाहिए। गया भी है। पर ये शायद उससे अधिक के हक़दार हैं।

मो. 9818577833

पुस्तक संदर्भ

***लफ़्फ़ाज़ और अन्य कहानियां,* योगेंद्र आहूजा, आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2020**

***चिट्टी ज़नानियां,* राकेश तिवारी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2020**

सभ्यता-समीक्षा की तीन कथा-छवियां

राकेश बिहारी

सभ्यता एक गतिशील अवधारणा है। इतिहास गवाह है कि मानव सभ्यता की विकास यात्रा के तीन शुरुआती क़दम आग, पहिया और भाषा के आविष्कारों में गतिशीलता का जो भावबोध मौजूद था, उसकी गति हर अगले अनुसंधान और अन्वेषण के साथ तेज़ होती गयी है। यहां यह भी स्पष्ट किया जाना ज़रूरी है कि सभ्यता और गति के अंत:संबंधों की परिणति हर बार प्रगति के रूप में ही प्रकट हो, यह ज़रूरी नहीं है। यानी गति और प्रगति दो अलग अवधारणाएं हैं। लेकिन इक्कीसवीं सदी के बीस वर्षों में सभ्यता के रथ का पहिया इतनी तेज़ गति से घूमा है कि गति और प्रगति के बीच के सारे अंतराल लगभग ख़त्म से हो गये हैं। चूंकि कहानी का इतिहास भी सभ्यता के इतिहास जितना ही पुराना है, सभ्यता और गति के अंत:संबंधों की आंच और उसके प्रभावों को कहानियों की संवेदना और संरचना दोनों में ही सहज महसूस किया जा सकता है। यही कारण है कि सभ्यता, गति और प्रगति की पारस्परिकता को समझने के लिए कहानियां एक ज़रूरी ज़मीन मुहैया कराती हैं। चूंकि कहानियां ख़्वाब और हक़ीक़त की साझा ज़मीन पर दर्ज तर्ज़े बयानी का परिणाम हैं, इनके भीतर इतिहास की अनुगूंजों और भविष्य की आहटों को एक साथ सुना जा सकता है। पिछले दो वर्षों में प्रकाशित तीन कहानी-संग्रहों (*दुश्मन मेमना*, *स्माइल प्लीज* और *प्रार्थना-समय*) की कुछ महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय कहानियों के हवाले से सभ्यता, कहानी और कहानी की तर्ज़ेबयानी में आये बदलावों और उनके अंत:संबंधों को समझने की कोशिश करना ही इस आलेख का उद्देश्य है।

आधार प्रकाशन द्वारा 2020 में प्रकाशित ओमा शर्मा के कहानी संग्रह, *दुश्मन मेमना* के केंद्र में सूचना क्रांति के बीच विकसित हो रहे परिवारों के बीच उग आये पीढ़ी अंतराल की स्थितियों से उत्पन्न विडंबनाएं हैं। इससे पहले कि इस कहानी के निहितार्थों और कहन की विशेषताओं पर बात हो, कहानी का एक हिस्सा देखा जाना चाहिए :

> उसकी यही नॉनसेन्स जिज्ञासाएं हर रात को सुलाये जाने से पूर्व अनिवार्य रूप से सुनायी जाने वाली कहानियों का पीछा करतीं। मुझे बस चरित्र पकड़ा दिये जाते- फ़ॉक्स और मंकी, लैपर्ड, लायन और गोट, पैरट, कैट, एलिफ़ेंट और भालू। भालू को छोड़कर सारे जानवरों को अंग्रेज़ी में ही पुकारे जाने की अपेक्षा और आदत। कहानी को कुछ मानदंडों पर खरा उतरना पड़ता। मसलन उसके चरित्र कल्पना के स्तर पर कुछ भी उछल-कूद करें, मगर वायवीय नहीं होने चाहिए, कथा जितनी मर्ज़ी मोड़-घुमाव खाये, मगर एकसूत्रता होनी चाहिए, कहानी का गंतव्य चाहे न हो, मगर मंतव्य होना चाहिए, वह रोचक होनी चाहिए और आख़िरी बात यह कि वह लंबी तो होनी ही चाहिए।

उपर्युक्त पंक्तियां कहानी शुरू होने के तुरंत बाद की ही हैं। लगभग अट्ठाईस पृष्ठ लंबी इस कहानी के पहले दो पृष्ठों में अपनी इकलौती किशोर बेटी के खाने-पीने और सोने-जागने की दिनचर्या की बात करने के क्रम में उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए कहानी का नैरेटर 'मैं' यहां कहानी सुनाने संबंधी उसकी फ़रमाइशों के बारे में बता रहा है। पर इसे इतने में ही सीमित कर देना उचित नहीं होगा। दरअसल, इन पंक्तियों में ओमा शर्मा कहानी के उस व्याकरण की तरफ़ भी इशारा कर जाते हैं, जिसके सूत्रों की अलगनी पर उनकी कहानियों का चंदोवा फैलता है। संदर्भित कहानी सहित संग्रह की सभी कहानियों (यथा- 'शरणागत', 'एक समय की बात', 'कोहरे के बीच', 'दूसरा विश्वयुद्ध' आदि) में कहानी संबंधी उनकी इन मान्यताओं के लक्षण साफ़ तौर पर दिखायी पड़ते हैं। मसलन आकार में ये सभी कहानियां लंबी हैं, इन कहानियों के कथानक अलग-अलग मोड़ों से गुज़रने के बावजूद आपस में कहीं न कहीं एक ख़ास सूत्र (सामान्यतया यह सूत्र समय का होता है) में आबद्ध होते हैं और ये कहानियां तमाम उड़ानों के बाद भी यथार्थ की जड़ों से ख़ुद को विलग नहीं होने देतीं। प्रख्यात कवि-गीतकार गोपाल सिंह नेपाली के शब्दों में कहें तो 'उड़ने को उड़ जाये नभ में पड़ छोड़े नहीं ज़मीन कलम'।

तेज़ रफ़्तार से चलती और उससे भी तेज़ रफ़्तार से बदलती तकनीकों ने आभासी तौर पर चाहे हमें जितना जोड़ दिया हो, हम भीतर से उतने ही एक-दूसरे से अलग और दूर हुए हैं। धरती के भूगोल पर व्याप्त दूरियां जिस गति से कम होती जा रही हैं, हमारे मन के बीच उसी गति से दूरियों का रेगिस्तान फैलता जा रहा है। ज़िंदगी की दुश्वारियों को आसान करने वाले साजो-सामान की पहुंच से हमारी ज़िंदगी जहां हर रोज़ गुलज़ार हो रही है, वहीं उसके साइड इफ़ेक्ट्स जीवन के सौंदर्य को क्षतिग्रस्त भी कर रहे हैं। एक तरफ़ परीक्षा परिणामों में प्राप्तांक के प्रतिशत के ग्राफ़ों की प्रतिस्पर्धा लगातार बढ़ती जा रही है, वहीं हर वर्ष परीक्षा परिणाम आने के आसपास देश के हर कोने से असफल छात्र-छात्राओं के आत्महंता हो गुज़रने की ख़बरें भी आम होती जा रही हैं। क्या इन विकट परिस्थितियों का ठीकरा तकनीक और पीढ़ी अंतराल के सिर पर फोड़कर संतुष्ट हुआ जा सकता है? आसान-सा दिखता यह प्रश्न इतना आसान नहीं है। इस या इस जैसे अन्य प्रश्नों के सही उत्तर तक पहुंचने के लिए आत्मनिरीक्षण और साहस की ज़रूरत है। किसी मुलायम छौने के अचानक ही बिल्ली में बदल जाने की यह कहानी उसी साहसी आत्मनिरीक्षण के कारण विशिष्ट बन पड़ी है। इस कहानी की रचना प्रक्रिया पर बात करते हुए ओमा शर्मा ने इसे अभी तक की अपनी 'सबसे आत्मकथात्मक कहानी' की संज्ञा दी है। यह भी कम दिलचस्प नहीं कि इस कहानी से गुज़रते हुए हर पल मेरे भीतर इसके अपनी कहानी होने का अहसास बना रहा। आठवीं कक्षा में पढ़नेवाली इकलौती पुत्री जो अपेक्षाकृत गणित में कम अंक लाती है (मेरी ही तरह) और जिसे खाने में मैगी बहुत पसंद है, का पिता होना शायद इसका बड़ा कारण हो।

कहानी के शुरुआती कुछ पन्ने मैंने अपनी बेटी को भी पढ़कर सुनाये। उसकी मासूम प्रतिक्रिया भी कम दिलचस्प नहीं कि 'मेरी कहानी कैसे लीक हो गयी?' कहानी में ज्यों-ज्यों धंसता गया, इस कहानी के साथ जैसे ख़ुद को और ज़्यादा जुड़ा महसूस करता रहा, अपने भविष्य की वैसी कल्पना किसी भी मां-बाप को सिहरा सकती है। इसलिए भीतर लगातार एक प्रार्थना भी चलती रही कि ऐसा किसी के साथ न हो। हर लेखक अपने जीवन और आसपास से ही कहानी के लिए कच्चे माल जुटाता है। पर किसी कहानी के बहुत ज़्यादा आत्मकथात्मक हो जाने को मैं कहानी की एक कमी की तरह देखता हूं। पर कोई कहानी जब उसके पाठकों को भी उतनी ही आत्मकथात्मक लगने लगे तो यह कहानी की बहुत बड़ी ताक़त हो जाती है। निजी अनुभव को सार्वजनिक अनुभव में बदल डालने की यह ताक़त 'दुश्मन मेमना' की सबसे बड़ी सफलता है।

'दुश्मन मेमना' कहानी में मुख्यतया चार किरदार हैं – नैरेटर, उसकी पत्नी मीरा, उन दोनों की बेटी समीरा और मनोचिकित्सक डॉक्टर अशोक बैंकर। एक बहुत ही परिचित और लगभग आम से हो चुके पारिवारिक दृश्यों से बनी-बुनी इस कहानी के केंद्र में समीरा की मानसिक उथल-पुथल और उसके प्रति एक पिता की भावनात्मक चिंताएं ही प्रमुख हैं। संदर्भित घटनाओं के हवाले से कहानी अपने उद्देश्यों को पाठकों तक पहुंचाने में तो सफल हो जाती है, पर पूरी कहानी में समीरा के भीतर की उथल-पुथल का कोई बारीक़ चित्र नहीं दिखायी पड़ता। कहानी पूरी तरह नैरेटर की दृष्टि से दिखायी और उसकी ही भाषा में सुनायी पड़ती है। ऊपर कहानी के जिस साहसी आत्मनिरीक्षण वाले पक्ष की तरफ़ मैंने इशारा किया है, वह कहानी के क्लाइमेक्स में नज़र आता है। डॉक्टर के शब्द, 'और हां, आइंदा यह मत समझिए कि वह छोटी बच्ची है... मोबाइलों की कान-उमेठी करने में वह हम-आपसे कहीं आगे वाली जेनरेशन की है... आपके उस चैप्टर ने उसे गहरे झिंझोड़ा है...'। यहां 'मत समझिए कि वह छोटी बच्ची है' और 'उस चैप्टर' के पार्श्व में ही कहानी की कहानी की छुपी है, जिसकी अंतर्कथा का स्पष्ट उल्लेख कहानी में कहीं नहीं है। पर कहानी का यह सांकेतिक अंत प्रकटतः दिखानेवाली कथा में बहुत कुछ जोड़ने की सामर्थ्य रखता है, यही 'अप्रकट' इस कहानी को 'कहानी' बनाता है।

घटना और संवाद ओमा शर्मा की कहानियों में प्रमुखता से उपस्थित होते हैं। सुधांशु गुप्त की कहानियां इन अर्थों में ओमा शर्मा की कहानियों का विलोम हैं कि ये लगभग घटनारहित और संवादहीन होती हैं। दोनों की कहानियों में एक बड़ा संरचनात्मक अंतर यह भी है कि ओमा शर्मा की कहानियां प्रायः जितनी लंबी होती हैं, सुधांशु गुप्त आकार में उतनी ही छोटी कहानियां लिखते हैं। इस बात का अंदाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 2020 में प्रकाशित एक सौ अठारह पृष्ठों के इनके कहानी-संग्रह, *स्माइल प्लीज़* में कुल अठारह कहानियां संकलित हैं। मनुष्य के अवचेतन में स्थित ग्रंथियों और अवगुंठनों को खोलने-सुलझाने का जतन करती ये कहानियां अपने पाठकों से एक ख़ास तरह की तैयारी और बौद्धिक चैतन्यता की मांग करती हैं। लगभग एकालाप की शैली में बाह्य और आंतरिक परिवेश के द्वंद्व से निकली सुधांशु गुप्त की कहानियां संप्रेषण से ज़्यादा अभिव्यक्ति में विश्वास रखती हैं, जिसे डिकोड करने के लिए पाठकों को आस्वादक से ज़्यादा अन्वेषक होने की ज़रूरत है। इस तरह की कहानियों में प्रायः अमूर्तन का ख़तरा होता है, पर यथार्थ की बारीक़ लेखकीय समझ सुधांशु गुप्त की कहानियों को संश्लिष्ट तो बनाती है, पर उन्हें वायवीय या अमूर्त कथा-परिसर में जाने से रोक लती है।

स्माइल प्लीज की कहानियों में तस्वीर, तस्वीर का फ्रेम या आईना बार-बार आता है। इन कहानियों के संदर्भ में ऐसा कहते हुए कुछ उदाहरण सहज ही मस्तिष्क-पटल पर कौंध रहे हैं :

'आज ही उसने बेटे से डीपी बदलना सीखा है। डीपी यानी डिस्प्ले पिक' – ('मिसफ़िट' कहानी का शुरुआती वाक्य)

'स्माइल प्लीज़ और क्लिक के बीच न जाने कितनी सदियां बीत जाती हैं।' ('स्माइल प्लीज़' कहानी का शुरुआती वाक्य)

'वह ठीक पंद्रह मिनट बाद तैयार होकर शीशे के सामने खड़ा था।' ('मार्च में मई जैसी बात' कहानी से)

'तब उनके घर में ड्रेसिंग टेबल नहीं था। उसे हाथ में छोटा सा शीशा लेकर बाल बनाने होते थे।' ('मार्च में मई जैसी बात' कहानी से)

यों तो मनुष्य हमेशा से अपने सौंदर्य और शृंगार के प्रति सजग रहा है। पर वाह्य सौंदर्य के मुक़ाबले आंतरिक सौंदर्य की ताक़त को रेखांकित किये जाने के भी अनगिनत उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। पिछले कुछ वर्षों में सोशल और इलेक्ट्रोनिक मीडिया की तेज़ी से बढ़ती मौजूदगी ने लोगों को कुछ ज़्यादा ही सौंदर्यसजग बनाया है। तस्वीर-सजगता जो कभी अभिनेताओं तक सीमित होती थी, ने अपने परिसर का ताबड़तोड़ विस्तार करते हुए नेताओं और आमजन तक को अपनी 'गिरफ़्त में ले लिया है। सूचनाक्रांति की संतान स्मार्ट फ़ोन ने जहां आमजन को 'सेल्फ़ीसमर्थ' बनाया है वहीं मीडियाबली राजनेता अब 'परिधानमंत्री' बनने में ही अपना मोक्ष तलाश रहे हैं। फ़ेसबुक की आत्ममुग्धता से लेकर जियो के विज्ञापन तक में तस्वीरें जिस मुखरता से बोलने लगी हैं उसने 'तस्वीरकुंठितों' की एक नयी श्रेणी भी तैयार कर दी है। सुधांशु गुप्त इन कहानियों में जिस तरह बार-बार तस्वीर, फ्रेम और आईने की बात करते हैं, उसके अंतर्पाठों में 'तस्वीरसजग' और 'तस्वीरकुंठित' दोनों ही श्रेणियों के नवनागरिकों की अंतर्ध्वनियां साफ़-साफ़ सुनी जा सकती हैं।

संक्षिप्तता और मितकथन सुधांशु गुप्त की कथा-प्रविधि के ख़ास लक्षण हैं। ये पेशे से पत्रकार रहे हैं। नियत शब्द सीमा में अपनी बात कह जाने के अभ्यास से ही शायद यह हुनर इन्होंने हासिल किया हो। पर कई बार यही इनकी कहानियों की सीमा बन जाती है। पर जिन कहानियों में ये धैर्य के साथ कुछ चीज़ों को खुलने-खिलने देते हैं वहां इनकी कहानियां अपने श्रेष्ठ रूप में सामने आती हैं। 'मनी प्लांट' और 'मिसफ़िट' जैसी कहानियां इसके मज़बूत उदाहरण हैं, जो इन अठारह कहानियों के बीच अपेक्षाकृत लंबी और बेहतर हैं। मनी प्लांट के धनदायी होने के मिथ की विडंबना को उजागर करती कहानी 'मनी प्लांट' और लीक से हटकर बनी बनायी व्यवस्था के विरुद्ध चलने का जतन करनेवालों का हश्रोद्घाटन करती कहानी 'मिसफ़िट' संग्रह की बेहतरीन कहानियां हैं। यदि 'मिसफ़िट' कहानी ने जेंडर के सामान्य सामाजिक परसेप्शन के स्टीरियो टाइप को भी तोड़ा होता तो

यह और बेहतर हो सकती थी।

लगभग बीस वर्ष पहले हिंदी कहानी के क्षेत्र में कथाकारों की एक नयी पीढ़ी आयी थी, जिसे मैं 'भूमंडलोत्तर' कथा पीढ़ी कहता हूं। कुछ शुरुआती बुलबुले और झाग के बैठने के बाद कथाकारों की वह पीढ़ी अपना स्वरूप ग्रहण कर चुकी है। पिछले पांच-सात वर्षों में कुछ और नये कथाकारों ने उस पीढ़ी की नवीनतम परत के रूप में अपनी जगह दर्ज करायी है। युवा कथाकार प्रदीप जिलवाने 'भूमंडलोत्तर' कथा पीढ़ी की इसी ताज़ा परत के प्रतिनिधि कथाकार हैं। सेतु प्रकाशन द्वारा 2019 में प्रकाशित, *प्रार्थना-समय* उनका पहला कहानी-संग्रह है। इसके पहले भारतीय ज्ञानपीठ से इनका एक कविता-संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा आयोजित नवलेखन प्रतियोगिताओं में पुरस्कृत और अनुशंसित होकर चर्चा में आये प्रदीप के कहानी-संग्रह में कुल दस कहानियां संकलित हैं। प्रदीप के पास एक साफ़-सुथरी भाषा और बोधगम्य कथाशैली है। समकालीन यथार्थ के अलग-अलग मुद्दों को केंद्र में रख कर लिखी गयी इनकी कहानियों की पठनीयता सबसे पहले पाठकों का ध्यान खींचती है। संग्रह की शीर्षक कहानी, 'प्रार्थना-समय', जो अलग-अलग उपशीर्षकों में बंटी है, की शुरुआत एक प्रेम कहानी की तरह होती है,

> उन दिनों हम तीनों एक कमरे में साथ-साथ रहते थे। मैं, मनीष और असद। हमारे कमरे की खिड़की एक गली में खुलती थी। गली की दूसरी ओर, हमारी खिड़की के ठीक सामने, एक रंगीन खिड़की खुलती थी। उस खिड़की से हम तीनों को प्यार हो गया था। हो सकता है आप कभी उधर से गुज़रे हों और आपने भी वह खुरचे हुए से फीके नीले रंग वाली खिड़की देखी हो जिसे मैं यहां रंगीन खिड़की कह रहा हूं तो आप इसे कल्प कथा न समझें।'

कहानी में आगे पता चलता है कि नैरेटर ने अख़बार में किसी असद की गिरफ़्तारी की ख़बर पढ़ी है और वहीं से स्मृतियों की यह खिड़की खुली है, जिससे झांकते हुए यह कहानी अपना स्वरूप प्राप्त करती है। कहानी का बड़ा हिस्सा प्रेम या प्रेम जैसा होने की उन तरुण स्मृतियों से ही तैयार हुआ है। अपने किशोर प्रेम की साझा स्मृतियों का पुनरावलोकन करता हुआ नैरेटर कहानी के अंत में इस प्रार्थना से भर उठता है कि गिरफ़्तार हुआ व्यति उसका दोस्त न हो- 'मैंने मन ही मन एक प्रार्थना बुदबुदायी कि कि काश असद बेग़ मिर्ज़ा नाम का वह शख़्स जो पकड़ा गया है वह कोई और असद बेग़ मिर्ज़ा हो, हमारा असद न हो। हमारा रूम पार्टनर असद न हो, वरना वह सिर्फ़ एक मुसलमान की गिरफ़्तारी की ख़बर भर नहीं होगी बल्कि एक आदमज़ात की हत्या की सूचना भी होगी। आमीन!'

अल्पसंख्यकों की गिरफ़्तारी और मॉब लिंचिंग की घटनाएं इधर बहुत तेज़ी से बढ़ी हैं। इन विषयों को केंद्र में रखकर कई ख़ूबसूरत कहानियां इधर लिखी गयी हैं। इस कहानी की दिक्क़त यह है कि रूमानी भाषा रचने के मोह और यथार्थवाद के फ़ार्मूले के असंतुलित मिश्रण ने इस कहानी के फ़ोकस को हिला दिया है। नतीजतन यह कहानी न तो एक अच्छी प्रेम कहानी हो सकी है, न ही इसमें समकालीन सांप्रदायिक यथार्थों की अंतःपरतें ही खुल पायी हैं। कई जगह भाषा और दृश्य का दुहराव भी खटकता है।

संग्रह की एक अन्य कहानी 'चिड़िया रानी की गल्प कथा का सत्य' अपने शीर्षक के कारण अलग से पाठकों का ध्यान खींचती है। एक नन्ही-सी लड़की और चिड़िया की दोस्ती की प्रतीक रचना के बहाने यह कहानी प्रसव पूर्व लिंग परीक्षण और मादा भ्रूण हत्या के विरुद्ध प्रश्न खड़े करती है। गोकि यह विषय कहानी के लिए बहुत पुराना है, लेकिन जादू और फ़ैंटेसी के शिल्प में कहे जाने का अंदाज़ इसे रोचक बनाता है और इस कारण कहानी में पाठक की उत्सुकता बनी रहती है। यही इस कहानी की विशेषता है। स्वप्न और जादू के सहमेल से यह कहानी जिस यथार्थ की पुनर्रचना करती है, उसका प्रभाव कहानी में आद्योपांत बना रहता है। कहानी का अंतिम हिस्सा 'असत्य में सत्य लिखना एक जोख़िम है...', जहां पहुंचकर कहानी में एक नयी चिड़िया का प्रवेश होता है, लड़की के चिड़िया और चिड़िया के आकाश हो जाने की इस ख़ूबसूरत कहानी को एक कलात्मक ऊंचाई तक पहुंचाता है।

प्रदीप जिलवाने की कथा भाषा और तर्ज़ेबयानी पर भालचंद्र जोशी और उदय प्रकाश की स्पष्ट छाया दिखायी पड़ती है। संग्रह की पांच कहानियां उपशीर्षकों में बांट कर लिखी गयी हैं। पिछली सदी के अंत और उसके बाद के कुछ वर्षों में इस शिल्प का प्रयोग कई लेखकों ने किया है। भाषा या शिल्प के साथ किये गये प्रयोग यदि कहानी में किसी तरह का मूल्य संवर्द्धन करते हों तो इनका स्वागत किया जाना चाहिए, लेकिन महज़ फ़ैशन की तरह किये गये प्रयोगों का कोई औचित्य नहीं होता है। प्रदीप जिलवाने की कहानियों के उपशीर्षक कहानी की अर्थछवियों में कुछ नया नहीं जोड़ पाते। प्रदीप जिलवाने का यह पहला ही संग्रह है, उनकी कथा-यात्रा दीर्घ और दीर्घजीवी हो इसके लिए उन्हें भाषा का निजी मुहावरा और कहन की अपनी शैली विकसित करनी होगी।

इस टिप्पणी की शुरुआत में मैंने सभ्यता, गति और कहानी के जिन अंत:संबंधों की बात की थी, इन तीन कथा-संग्रहों से गुज़रते हुए उनकी कई परतें खुलती हैं। इन कहानियों को पढ़ना मानव सभ्यता की विकास-यात्रा के अद्यतन पड़ावों से रूबरू होना भी है।

मो. 9425823033

पुस्तक संदर्भ

***दुश्मन मेमना* : ओमा शर्मा, आधार प्रकाशन, पचकूला, 2020**
***स्माइल प्लीज़* : सुधांशु गुप्त, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2020**
***प्रार्थना-समय* : प्रदीप जिलवाने, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2019**

कहानी चर्चा

तीन निगाहों से झलकता यथार्थ

(तीन कहानी संग्रहों के हवाले से)

रश्मि रावत

वर्तमान के जटिल और भयावह होते जाते यथार्थ को तीनों कहानीकारों ने एक-दूसरे से नितांत भिन्न कोण से देखा है। इनके बीच अंत:संबद्धता का सूत्र खोजना मुश्किल है, मगर एक संग्रह में दर्ज यथार्थ की परतें दूसरे या तीसरे से भी संप्रेषित हुईं। मनोज रूपड़ा के कहानी संग्रह, *टावर ऑफ़ साइलेंस* की तीनों कहानियां देश-काल को एक विशाल कैनवास में इस अंदाज़ में प्रस्तुत करती हैं कि पाठक एक युग की कोख़ से निकलते हुए दूसरे युग की थरथराहट महसूस कर सकते हैं। दो अलग व्यवस्थाओं के संधिस्थल में अवस्थित पात्र समय की करवट के साथ कैसा रिश्ता बनाते हैं, मनोज रूपड़ा की कहानियां अक्सर इससे आकार लेती हैं। *साज-नासाज* में संगीत की दुनिया में आये तकनीकी बदलावों की भित्ति पर एक कलाकार (सैक्सोफ़ोन वादक) का आत्मसंघर्ष सजीव हुआ है कि वह बदलते समय के साथ ताल मिलाते हुए अपने जीवन के सारतत्व अर्थात अपनी संगीत कला को कैसे बचाये। उनके पात्र अपने भीतर 'आत्म', या कहें, उसे अर्थ देने वाले मूल तत्व, को बचाने के लिए अक्सर सनक की हद तक चले जाते हैं। मगर यह कहानीकार की सिद्धहस्त कलम से इस ख़ूबसूरती के साथ होता है कि कहानी पाठक की संवेदना में धंस जाती है। ज़िंदगी की बुनियादी ज़रूरतों पर संकट आने पर भी अपनी ज़िद पर टिके रहना पहले सनक लग सकता है मगर अंत तक महसूस होने लगता है कि यही तो ख़ुद के साथ खड़े होना है। इस समय का 'न्यू नार्मल', कम से कम शहरी मध्यवर्ग में, है - समर्पण, प्रतिरोधहीनता या महज रस्मी विरोध। मनोज रूपड़ा की कहानियां इस 'न्यू नार्मल' का प्रतिवाद हैं।

'टावर ऑफ साइलेंस' में पारसी समुदाय की जीवन-प्रणाली, गतिविधियों, आस्थाओं, कृत्यों, कर्मकांडों, पूजा-स्थल आदि के ब्यौरे हैं। यह इस कहानी की ताक़त भी है और कमज़ोरी भी। अपरिचय मिटाने का अपना महत्त्व है मगर ऐसे अंतर्मुखी समुदाय से पाठकों को परिचित करवाना एक अतिरिक्त सावधानी की मांग करता है। कहानी के कुछ पात्र हास्यास्पद से लगने लगते हैं जैसे 'बेस्ट' जैसी कामयाब, देश की सबसे बड़ी सिटी बस सर्विस शुरू करने वाले मुकदम बंधु और कभी बहुत कामयाब फ़ूड टेक्नोलॉजिस्ट रही हक्कू फई के व्यक्तित्व और आपसी रिश्ते बड़े बेढब से हैं और कहानी में कुछ ख़ास जोड़ते भी नहीं। पारसियों को देश की हलचलों और राजनीति से पूरी तरह निरपेक्ष दिखाया गया है जबकि आज़ादी के आंदोलन में पारसी समुदाय की नेतृत्वकारी भूमिका रही है। मगर कहानी का असल सौंदर्य देश की आर्थिक घड़ी की टिकटिक को धर्म की पवित्र अग्नि के साथ जोड़कर वर्णित करने में है।

पारसी समुदाय के लिए अग्नि बहुत पवित्र होती है। उनकी मान्यतानुसार 1300 वर्ष पहले जरथोस्त्री अनुष्ठान के द्वारा आसमान की बिजली का आह्वान कर जो आतश (आग) प्रज्वलित की गयी थी, वही अब तक जल रही है और इसी के ताप में उनके संकल्प उद्यमों में ढलते रहे। असली जरथोस्त्री आतशों को कभी मरने नहीं देता। इसी तरह असली उद्यमी अपने उपक्रम की भट्टी को ठंडा नहीं होने देता। देश की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और अपने समय की सबसे बड़ी कपड़े की मिल का पूरा तापमान रोमिंगटन दस्तूर के हाथों से नियंत्रित होता था। वे भट्टी, चिमनी और बॉयलर के विशेषज्ञ थे। व्यवस्थाएं बदलती हैं और तकनीक भी रिटायर होती है। पूंजीवाद जब उग्र पूंजीवाद में बदलता है तो मिलों और उद्यमों के स्थान पर मॉल इत्यादि बनने लगते हैं। कारीगरों की जगह कंज्यूमर महत्वपूर्ण होने लगते हैं। इसी प्रक्रिया का अक्स कहानी में रोमिंगटन की अनुभव पगी निगाहों में झलकता है जब वे जमशेदजी टाटा की तस्वीर को भरपूर सम्मान से देखने के बाद बुझी आंखों से रतन टाटा की तस्वीर को ताकते हैं। जिस पहली मिल से टाटा का पूरा एम्पायर पैदा हुआ उसे बेचना उन्हें बूढ़ी मां को लावारिस छोड़ देने जैसा महसूस होता है। मिल के बंद होने के बाद भी घर छोड़कर उस बीहड़ सी जगह में रहने और किसी भी तरह चिमनी की आग बचाये रखने की अजीब सी ख़ब्त रोमिंग्टन के सिर पर सवार हो जाती है। अंत में वे ख़ुद उसी चिमनी में कूद जाते हैं। जीते जी चिमनी की आग बुझने देना उनकी पारसी चेतना को मंज़ूर जो नहीं। इम्प्रेस मॉल बनने से पहले इम्प्रेस मिल के मलबे को हटाये जाने पर चिमनी से एक नरकंकाल मिलता है। यह चिमनी एक तरह से वह 'टावर ऑफ़ साइलेंस' है जहां पारसी समुदाय की प्रथानुसार शव चील कौवों का भोज्य बनने के लिए छोड़ दिये जाते हैं।

अर्थव्यवस्था की वहशी चाल तले मनुष्य - और एक समूची मूल्य व्यवस्था – इसी तरह रौंद दिये जाते हैं, इसे कहानी बेजोड़ ढंग से रोमिंगटन के बेटे टेम्पटन दस्तूर की नज़र से दिखाती है। फूल के खिलने को एकटक देखने से उनकी चेतना में एक नाज़ुक अनछुआ सौंदर्यबोध घर कर गया था, जिसने उनमें समुदाय में रहते हुए भी उसे दृष्टा भाव से देखने की सलाहियत पैदा कर दी। वर्ना कैसे मिलते भीतर के अनूठे अनुभव एक पर्यवेक्षक की निगाहों से? पारसी जैसे रंध्रहीन समुदाय के रक्त प्रवाह में गहरे धंसे मूल्य ही विकास या कहें विनाश की आंधी में नहीं टिक सके तो अन्यों पर इसके प्रभाव के परिमाण को समझा जा सकता है। शायद लेखक ने भयावहता के इस स्तर को दिखाने के लिए ही अतिशयोक्ति का सहारा लिया हो। आवारा पूंजी से गठजोड़ बनाये उत्तर पूंजीवाद की विनाशक आंधी में उद्योगों के साथ धार्मिक आस्था जैसे पवित्र संबंध बनाने वालों के संकल्प ही अडिग न रहे तो अन्यों की गति तो कल्पनातीत ही होगी।

लंबी कहानी, 'सैकंड लाइफ़' में प्रचंड पूंजीवाद की उपभोक्तावादी प्रवृत्ति की ऐसी बेतहाशा दौड़ दिखायी गयी है जिसमें व्यावसायिक नैतिकता की कोई जगह नहीं रह गयी है। न इसे निर्माण या उत्पादन से ही कुछ लेना देना है। कहानी दर्शाती है कि उदारीकरण के आगाज़ के बाद नये-नये बनते 'सेज़' (स्पेशल इकोनॉमिक ज़ोन) तले क्या कुछ रौंदा या कुचला जा रहा है। छोटे से क़स्बे की शांत ज़िंदगी से निकलकर प्रशांत पांचाल पुणे जैसे हाइटेक शहर में आगे की पढ़ाई करने आता है, जहां चारों तरफ़ 'सुपीरियर' और 'फ़ाइन' कॉर्पोरेट कर्मचारी पैदा करने वाले शिक्षण संस्थान हैं। वह 'सिम्बयोसिस' से प्रबंधन की डिग्री हासिल करता है। मेधावी, हुनरमंद और तीक्ष्ण बुद्धि वाले लेकिन भोले व्यक्ति के लिए सहपाठिन रीना अनासे के अलावा किसी के मन में जगह नहीं बन पाती। सब उसका मखौल बनाते हैं जिससे उसके कोमल मन के तिड़कने की शुरुआत हो जाती है। बाज़ारवाद के तूफ़ान में हुनर की अर्थवत्ता बची रहती तो रीना जैसी संवेदनशील समझदार स्त्री के आत्मीय दायरे में रहते हुए वह जीवन गुज़ार सकता था। लेकिन बेईमानी, छल-प्रपंच और आंकड़ों में हेरफेर को ही नया स्किल मान लेना उसकी सोच और कल्पना के दायरे से परे था। वह यह मासूम भरोसा नहीं कुचल पाता कि कारपोरेट में पूरी प्रतिबद्धता से काम करते जाने से वह काम में परफ़ैक्ट, अधिकाधिक सफल हो सकेगा। अगर ... बहुत लंबी सूची है जिसका अनुमान वर्तमान परिदृश्य से लगा पाना दुष्कर नहीं। उससे छलपूर्वक उल्टे-पुल्टे काम करवा कर उसके अधीन रह कर काम सीखने वाले अनाड़ी लड़के को उसका बॉस बना कर उसे कंपनी से बर्ख़ास्त कर दिया गया। रीना के सान्निध्य और व्यक्तित्व की आंच उसे फिर खड़ा कर सकती थी, लेकिन यथार्थ उसके लिए इतना असहनीय हो गया कि वह वास्तविकता से मुंह मोड़ कर 'सैकंड लाइफ़' नाम की वर्चुअल दुनिया की नागरिकता लेकर अपने वर्चुअल 'स्व' के ज़रिये वर्चुअल तोष हासिल करने में ख़ुद को खपाने लगा। व्यवस्था के महाचक्र में पिसता वह ख़ुद को इतना निरीह और अकेला महसूस करता है कि यथार्थ से पूरी तरह पलायन कर जाता है। अन्यायों और मानवविरोधी आर्थिक गतिविधियों के ख़िलाफ़ उसका प्रतिरोध भी वर्चुअल है - डिजिटल दुनिया में वर्चुअल स्त्री मदर यूनिवर्स से वर्चुअल संभोग करके छापामार संतानें पैदा करके बदला लेने की चाहना। इस प्रक्रिया में उसका मानसिक रोग इतना बढ़ता गया कि वह वास्तविक सहवास के क़ाबिल न रहा और कोमा में पहुंच गया। जाते-जाते 'सैकंड लाइफ़' चलाने वाली लिंडल लैब कंपनी को ज़रूर कुछ डॉलर का फ़ायदा पहुंचा गया।

'रद्दोबदल' अनूठी कहानी है जो अ-दिखते जबड़े में फंसे वर्तमान युग को पूरी समग्रता में व्यापक विज़न से दिखाती है। असंभव और कुछ अतिरंजित लगते प्रसंगों से भारी-भरकम शब्दों में लगभग रिपोर्टिंग की शैली में कहानीकार विवरण दिये जाता है। विवरण बड़े खौफ़नाक हैं और भाषा बेमुरव्वत। साफ़ दृष्टि और सधे हाथों से कहानीकार पन्नों में शब्द उकेरता है तो हमारे समय की अगणित घटनाएं रील की तरह मानस के परदे पर चलने लगती हैं - मसलन नोटबंदी, संविधान संशोधन विधेयक से संबद्ध घटनाएं, कश्मीर का फ़रमान, कोरोना काल में सड़कों पर उमड़े भूखे-प्यासे मज़दूर, इस समय का किसान- प्रदर्शन या फिर अतिशय रंगों, स्वादों, शब्दों, ध्वनियों में ऊब-डूब करते, उपभोग में मग्न, लफ्फ़ाज़ लोगों की आत्मतुष्ट दुनिया। चंद ऐसे चेहरे भी कौंधते हैं जो अपनी आदमियत को, अपने होने के अर्थ को एक ज़िद की तरह मुट्ठी में भींचे रखते हैं। उनका हश्र वही हुआ, हो रहा है जो एक फ़ासीवादी व्यवस्था में होता है। नहीं, यह सब कुछ कहानी में मौजूद नहीं, मगर पाठक के अंतर्मन के परदे में कहानी पढ़ने के दौरान चलता रहता है - इसलिए यह भी कैसे मान लिया जाये कि कहानी में नहीं है।

महज़ आठ दशक पहले एक दूसरे देश (जर्मनी) में जो कुछ और जिस तरह हुआ, वह इतिहास का हिस्सा है। उसके हवाले कहानी में आते जाते हैं। उनकी ही तर्ज़ पर व्यवस्था आज के अपने एजेंडे की पूर्ति करती दिखती है। पाठक को बोध होता है कि देश-काल और एजेंडे के फ़र्क़ के बावजूद हिंसा और 'दूसरेपन' से नफ़रत के स्तर में कोई अंतर नहीं है। जर्मनी में लाखों ज़िदगियां जिस तरह एक तानाशाह की हिंसक सनक का निशाना बनीं, ऐसा होना आज आसान नहीं - इसलिए कि व्यक्ति व्यक्ति के तौर पर भले क़तई ग़ैरज़रूरी हो लेकिन उपभोक्ता के रूप में तो उसकी उपयोगिता है ही। विज्ञान का इतना भी विकास अब तक नहीं हुआ कि आदमियों का फ़ैक्ट्रियों में उत्पादन हो सके। मगर अपनी (कु)बुद्धि के बल पर विज्ञान और तकनीक के भरपूर दोहन से यह ज़रूर संभव किया जा सकता है कि मनुष्य अपना वैशिष्ट्य खो कर नाम, पहचान और चेतना से विहीन एक 'रोबो' या 'ज़ोंबी' रह जाये, जिसके रिक्त अंतर्जगत से व्यवस्था के मंसूबे हवा की सी सरलता से पूरे होते रहें।

नागरिकों से उनकी संस्कृति, उनकी सोचने-विचारने-जीने की क्षमता निचोड़ कर अपना ठप्पा लगाने के शासन के तरीक़े एक अतियथार्थवादी शैली में संपन्न होते दिखते हैं। एक अजीबोग़रीब बिल्ला जो सत्ता का प्रतिनिधि है और ख़ुदा से भी ज़्यादा शक्तिशाली और सर्वव्यापी है - कहानी में बार-बार आता है। वह नागरिकों से कुछ भी करवा लेने में समर्थ है। एक-एक कर सभी वर्गों और व्यवसायों के लोग सत्ताधीन होते जाते हैं। एक अतियथार्थवादी फ़ैंटेसी के ढांचे में अतिरंजित लगते विवरणों के समानांतर एक दूसरे देश का यथार्थ पूरी प्रामाणिकता से कहानी में दर्ज होता रहता है - ज़बरन यहूदियों को ले जाया जाना, प्रश्न पूछने पर गोली मार देना...इत्यादि। हिटलर के वफ़ादार कर्मचारियों की यूनिफ़ॉर्म पर एस.एस. लिखा होता था। समकाल में लोगों का सामान, रोज़गार तबाह करने के बाद जिसका नाम और काम चलना है वह है आर.आर.। उग्र पूंजीवाद और फ़ासीवाद के गठजोड़ में जो घटित होता दिख रहा है और आगे जो होने की आशंकाएं हैं, उन्हें पूरी सजीवता से मनोज रूपड़ा साकार करते हैं। एक घेरा है जिसमें नागरिक घिर गये हैं। एक फंदा है धीरे-धीरे कसता हुआ। प्रतिरोध और संघर्ष तो दूर लोग निराश और भयभीत भी ठीक से नहीं हो पा रहे हैं। जब दूसरे की गर्दन पर शिकंजा कसता है, वे तटस्थ रहते हैं। जैसे वह सब कहीं और, किसी अन्य प्रजाति के साथ हो रहा है, बल्कि शिकंजे कसने में सहयोगी होने में भी उन्हें गुरेज़ नहीं। जर्मनी में 'कापो' (यातना शिविरों में यहूदियों के बीच से ही चुने जाने वाले, उनके उत्पीड़न में सहयोगी) बिरादरी का हश्र अन्य यहूदियों जैसा ही हुआ। मुल्क दो भागों में तक़्सीम हो गया है। एक ओर वे हैं जिनसे इक़रारनामे पर दस्तख़त करवा लिये गये हैं। दूसरे वे जिन्हें ऐसी किसी रहस्यमयी कार्यवाही की भनक भी नहीं है। ये एक अन्य देश और समय में हुई सच्ची घटनाएं हैं, इसलिए इन विवरणों को अयथार्थ नहीं कह सकते, भले ही वे कितनी ही भयावह, अतिरंजित या अविश्वसनीय महसूस हों। लेखक

धीरेंद्र अस्थाना और शायर निदा फ़ाज़ली कहानी में पात्रों के रूप में आते हैं । वे सत्ता की आयोजना का हिस्सा बनने से इनकार करते हैं लेकिन प्रतीकात्मक प्रतिरोध से अधिक कुछ नहीं कर पाते। एक यथार्थवादी शिल्प में पात्रों, घटनाओं, प्रसंगों, संवादों के ज़रिये कहानी विधा के अंतर्गत ये बातें कहना संभव न था। इसके लिए मोटे उपन्यास की दरकार होती। इक़रारनामा लेकर आने वाला बिल्ला मिख़ाइल बुल्गाकोव के प्रसिद्ध रूसी उपन्यास *मास्टर और मार्गरीता* से लिया गया है। कहानी पाठक की संवेदना की बनिस्बत उसकी समझ को अधिक संबोधित है। यह भावविह्वल नहीं करती, लेकिन सजग, चेतनायुक्त और बोधसंपन्न ज़रूर बनाती है । मुक़म्मल न होते हुए भी यह एक सशक्त, सक्षम, महत्त्वपूर्ण कहानी है।

पूंजी के वैश्विक दौर में भूमाफ़िया-कारपोरेट और सरकारों के चरित्र को अलग-अलग मान कर यथार्थ को नहीं समझा जा सकता। '*सैकंड लाइफ़'* में प्रशांत की कारपोरेट कंपनी 'मोर, मोर' की हवस में स्पेशल इकोनॉमिक ज़ोन के लिए ज़मीन हड़पने के लिए सीमांत किसानों के खेतों की ओर रुख़ करती है । इस कुचक्र का दूसरा सिरा देश की जिस आबादी को अपनी गिरफ़्त में लेता है, वह हम कथाकार रणेंद्र की अन्य रचनाओं की तरह उनके सद्य:प्रकाशित कहानी-संग्रह, *छप्पन छुरी बहत्तर पेंच* की छः कहानियों में देख सकते हैं। पराधीन अभिव्यक्ति और बिकाऊ बुद्धिधर्मिता के इस दौर में सामने दिखती दुनिया और इस दुनिया से दूर, हाशिये के समुदायों के बीच अंधेरे का एक पूरा समुद्र पसरा हुआ है। दूर से आती उस पार की डोंगियां दिख भी जायें तो उन्हें परखा जाता है इस पार के नज़रिये से ही।

रणेंद्र की कहानियां अंधेरे के उस पार के जीवन को उसकी समूची जीवंतता और ऊबड़-खाबड़पन में सजीव करती हैं। इनमें आदिवासी समुदायों के जीवन को गौरवान्वित नहीं किया गया है, न पर्यटक की निगाहों से देखा गया है, न बुद्धि की बनी बनायी नागरी परिपाटी से यथार्थ को ग्रहण किया गया है। इनका कथ्य इस दौर का यथार्थ है जब तथाकथित विकास का रोलर दूरस्थ इलाक़ों तक अपनी पहुंच बना चुका है। समझ और संवेदना दोनों ही स्तरों पर समृद्ध करने वाली ये कहानियां सीमांत इलाक़ों और वहां के जनों की दुर्दशा के पीछे कार्यरत शोषक-शक्तियों का तानाबाना खोल कर रख देती हैं। संरचनागत हिंसा के विविध तत्वों की अंत:संबद्धता को प्रामाणिकता के साथ तर्कतः प्रस्तुत करती हैं। जिन किरदारों पर यह पूरा घटनाक्रम घटित होता है उनकी ज़िदगियों को वहीं की बोली-बानी में इतनी ख़ूबसूरती से उकेरा गया है कि पाठक अपने को बख़ूबी पात्रों के साथ जोड़ पाता है और उनके उतार-चढ़ाव के साथ उसकी संवेदना भी हिलोरें लेती हैं। अक्सर किरदारों के संघर्ष और सपनों की परिणति उनके हिंसा का निवाला बनने में होती है, जो पाठक के संवेदना तंत्र को झकझोर कर रख देता है। वह ख़ुद को इन सीमांत जनों के सरोकारों के साथ खड़ा पाता है।

सत्ता तंत्र का शिकार निर्दोष जन तरह-तरह से बनते हैं। बिना किसी प्रमाण के उन्हें नक्सलवादी क़रार दे कर जेल में ठूंसने या मारने के अस्त्र का प्रयोग प्रशासन अलग-अलग मक़सद से अकसर ही करता है। कभी अपने लालच को पूरा करने के लिए, (सरेंडर जतरा), कभी आवेग के तहत आकस्मिक ढंग से किये गये कृत्य को न्यायसंगत दिखाने या संसाधन हड़पने और बलि जैसे कुत्सित कृत्य के लिए। आदिवासियों के प्रति तथाकथित सभ्य लोगों और अधिकारियों का हेय दृष्टिकोण भी उनकी बदहाली के लिए ज़िम्मेदार है। 'भूत बेचवा' में इसी सब से पैसा कमा कर एक साधारण कर्मचारी त्रिपाठी का मेगा शो रूम खुल गया है। कहानी दिखाती है कि धर्म, सत्ता, अफ़सरशाही, पूंजीवाद, जातिवाद सबके दुष्चक्र में मूल निवासियों को कूट-पीस कर शोषकों ने कैसे चमकते-दमकते भवन और व्यवसाय खड़े कर लिये हैं। धार्मिक अंधविश्वासों के क्रूरतम रूप 'बलि' का पेट नक्सलवाद के नाम पर मौत के घाट उतारने की पुलिस तंत्र की कारगुज़ारी से भरता है। मेधावी, संवेदनशील, निर्दोष अनिल - जिसके सपनों की दुनिया उससे कुछ ही क़दमों की दूरी पर थी - और उसके दोस्त बहादुर बाखला की मोटर साईकिल सवारी से एक ऐसा लम्हा उनकी ज़िंदगी में आया कि उनके सारे सपने बिखर गये। अस्पताल में भर्ती बहादुर की गोमकाइन (पत्नी) के प्रसव के लिए वे पैसे का इंतज़ाम करने गांव गये थे। शहरी सभ्य (?) जनों से अलग लगती अपनी शक्लों का वे क्या करते? ट्रैफ़िक सिपाहियों को संदेह हो जाता है कि वे चोरी, उचक्कागिरी करके पैसे लाये होंगे या नक्सलियों के कूरियर होंगे। पैसे हड़पने के लालच के अलावा दूसरों को नीचा समझने वाले विकृत दृष्टिकोण के कारण भी उन दोनों के अस्पताल के काग़ज़ और यूनिवर्सिटी के प्रमाण पर शहरी कर्मचारी भरोसा नहीं करते। दोनों नक्सली क़रार दिये जा कर जेल के सलाख़ों के पीछे पहुंच जाते हैं। एक के बीबी-बच्चा मर जाते हैं, दूसरे से उसका सुनहरा भविष्य, उसका प्रेम सब छिन जाते हैं। सच्चाई पता चलने पर ऊपर के अधिकारी उन्हें छोड़ने के मक़सद से थाने पहुंचते हैं। मगर दोनों को बुरी तरह ज़ख़्मी हाल में पा कर छात्रों के बीच लोकप्रिय अनिल को छोड़ना ख़ुद अपने लिए ख़तरे से ख़ाली उन्हें नहीं लगता, अपने बचाव के लिए उनके नक्सली होने की कहानी गढ़ ली जाती है और 'पोटा' एक्ट में उनका चालान काट दिया जाता है। ऐसे मामलों में सिस्टम की सारी मशीनरी एकजुट होती है। 'कारण-कार्य संबंध, काफ़िया-वज़न-नुक़्ता सब चाक-चौबंद दुरस्त।' (पृ. 42, भूत-बेचवा, *छप्पन छुरी बहत्तर पेंच,* रणेंद्र) इस बीच अनिल की प्रेमिका और बहादुर की बहन रंजीता को धूर्त, चालाक, हाई स्कूल फ़ेल मनोज रूंडा से शादी करनी पड़ती है। हाई स्कूल की शिक्षिका के पद पर रंजीता का चयन हुआ था । नियुक्ति के लिए उसे मूल प्रमाण पत्र और थाने का क्लीयरेंस सर्टिफ़िकेट जमा करवाना था। उसे नक्सली की बहन होने के नाते नौकरी गंवाने और शादी की शर्त पर क्लीयरेंस सर्टिफ़िकेट लेने में से एक चुनना था। भाई-प्रेमी जेल में होने से उपजी विषम परिस्थिति में नौकरी उसके लिए ज़रूरी थी सो करनी ही थी। बाद में बलि के भयावह दृश्य, चंद स्वार्थी, धूर्त आदिवासियों की प्रशासन से सांठ-गांठ आदि के कारण उपजे संकट, एनकाउंटर आदि कई कुचक्रों में मासूमों की ज़िदगानियों को लथेड़ते हुए कहानी ख़त्म होती है सारे घटनाक्रम से अनजान रंजीता को माध्यम बना कर अनिल के मारे जाने से। प्रचंड हिंसा को अंजाम देने के बाद भी ख़ुद को शुद्ध ब्राह्मण समझने का त्रिपाठी का श्रेष्ठताबोध खंडित नहीं होता। वह संगम में डुबकी लगाकर पाप धो आता है।

'सरेंडर जतरा' में नौकरी देने के बहाने सीधे-सादे स्नेहिल मिजाज़ के मंगल के खेत और पैसे पुलिस वाले ले लेते हैं। उसे बताया जाता है कि उसके एवज़ में उसे बस ख़ुद को नक्सली कह कर सरेंडर ही तो करना है। थोड़े दिन में उन्हें छोड़ दिया जायेगा और सरकारी नौकरी मिल जायेगी। इसके लिए दोनों को मनाने के लिए आंगनवाणी में कार्यरत स्त्री भी उनका साथ देती है। मगर पुलिस हिरासत से मंगल की देह भर लौटती है। नायिका

का भाई तो कभी लौटता ही नहीं। राज्य की सीआईडी ने इस झूठे सरेंडर की पूरी ख़बर दे दी थी फिर भी लालच के बुलडोज़र ने सच्चाई को रौंद दिया और हज़ारों हंसते-खेलते परिवार तबाह हुए।

आदिवासियों के विकास के लिए बनी योजनाएं शायद ही कभी सही ढंग से लागू होती हों। काग़ज़ों में दिखता विकास किन आदिवासियों का होता होगा, यह इन कहानियों से समझा जा सकता है। लालच में अंधे, मक्कार आदिवासी जो शासन-तंत्र के साथ मिलकर बाक़ी मूल-निवासियों का शोषण करते हैं, उन्हीं को प्रशासन शह देता है। 'बाबा, कौए और काली रात' में भी शासन के छल-प्रपंच का पर्दाफ़ाश करने वाले तीन भाई जैसे दोस्तों की और ढीपाकुजाम गांव की ख़ुशहाल ज़िंदगी में काले बादल मंडराने लगते हैं, जब उनमें से एक, सुरेश की महत्त्वाकांक्षाएं उड़ान लेने लगती हैं। सत्ता और पद की दौड़ में अपनी प्रेमिका की आत्महत्या का कारण भी वह बनता है। उसके शासनतंत्र की मज़बूत कड़ी बनने के साथ-साथ उस गांव की बदहाली बढ़ती जाती है। ख़ास तौर से उसके दोनों मित्रों की ज़िंदगी बरबाद हो जाती है। एक मज़दूर के रूप में गांव से भागकर इलाज की कमी से दम तोड़ता है। गांव के हित में काम करने वाले दूसरे दोस्त स्वाभिमानी बाबा का मनरेगा के तहत मिलने वाला मज़दूरी का पैसा रोक लिया जाता है और तरह-तरह से उसे त्रास दिया जाता है। सत्ता का हिस्सा होने के ग़ुरूर में चूर सुरेश और उसके सहयोगी बाबा के स्वाभिमान को टूटते देखना चाहते हैं और बाबा की ज़िंदगी उनकी इस अमानवीय इच्छा की भेंट चढ़ जाती है। उसके मनोविज्ञान से खेलते हुए ऐसा प्रपंच उसके चारों ओर खड़ा किया जाता है कि उसकी सायास हत्या आत्महत्या लगे। अंधविश्वासी गांव वालों के लिए इसे 'डायन' का काम मानने का विकल्प है। अंधविश्वास का फ़ायदा उठाते हुए डायन वाला झूठ काफ़ी समय से वहां फैलाया जा रहा था। प्रशासन का मक़सद था योजनाओं की धांधली पर टोकने वाले का ख़ात्मा, बाबा के रिश्तेदारों का मक़सद था बाबा की ज़मीन हड़पना क्योंकि उनका बेटा नहीं था और वे नहीं चाहते थे कि बेटी को पैतृक संपत्ति मिले। राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के समीकरण के हिसाब से सुरेश जब किसी और से शादी कर रहा था, तब उसकी प्रेमिका और बच्चे को उन्होंने अपने घर में पनाह दी थी। सुरेश अपने मित्र से इस बात से ख़फ़ा था।

अन्य कहानियों सहित इसमें भी आदिवासी समुदाय के भीतर व्याप्त अंधविश्वास, लालच-लोभ, अज्ञान भी रणेंद्र ने दिखाया है कि कैसे प्रशासन इसका फ़ायदा उठाकर उन्हें बाक़ियों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करता है। औरतों के डायन होने की कहानियां बना-बना कर फैलायी जाती हैं। उनकी जिजीविषा और संघर्ष शक्ति को उभारने के साथ समुदाय के भीतर से आने वाले अवरोधों को भी कहानीकार रेखांकित करता है कि गौरव बोध और ताक़त अर्जित करने के लिए ही नहीं अत्याचार करने के लिए भी मिथक गढ़े जाते हैं, क़िस्से रचे जाते हैं।

'छप्पन छुरी बहत्तर पेंच' और 'दरवाजे में भिंची उंगली' में स्त्री की दुर्दशा का सजीव चित्रण है। शासनसत्ता और पितृसत्ता की परस्पर संबद्धता से यथार्थ भयावहतर होता जाता है। ताक़तवर व्यक्ति अपने धनबल, पदबल, सामाजिक पदक्रम से स्त्री के लिए जीने की राह नहीं छोड़ता। पहली कहानी में जीवन से भरी एक सुंदर, स्वस्थ स्त्री गांव के दबंग पुरुष के बलात्कार, अत्याचार सह-सह कर बिल्कुल निचुड़ जाती है। उसकी मौत के बाद ही दोबारा अपने ज़िंदा होने का उसे एहसास होता है। सवाल उठता है कि प्रशासन और क़ानून ऐसे में कहां चले जाते हैं? वे सिर्फ़ नक्सली क़रार देने और संपत्ति हड़पने के ही काम आते हैं?

'हमन को होशियारी' में एक कलाकार है जो अपनी शर्तों पर जीता है, उसका कलाप्रेमी मन समाज के सांचे में नहीं ढलता। ज़िंदगी के मौलिक रास्ते बनाता है और अपने मूल्यों पर अडिग रहता है। शुरू में उसे सामाजिक अनुमोदन नहीं मिलता, पर जब बाद में उपभोक्तावादी अर्थतंत्र का शिकंजा उनके क़स्बे के जीवन को कसता जाता है तब वह जिस तरह अपनी कला से प्रतिरोध का नवीन रास्ता निकालता है, उस पर सब उसके साथ होते जाते हैं। कहानी का अंत इन पंक्तियों के साथ होता है, 'दोपहर में जब भोला का' एक बड़े कैनवास के साथ निकले तो पीछे पीछे पूरा मौहल्ला, पूरा दियरा, कुम्हरा टोली, गैरेज मिस्त्री, सारे कलाकार-कवि बुद्धिजीवी, फिर पूरा शहर चल दिया। यहां तक कि मास्टर साहब और दुल्हिन भी जुलूस में शामिल हो गयी। जूलूस बढ़ता जा रहा है। न जाने क्या अंजाम हो!' (पृ. 111, 'हमन को होशियारी', *छप्पन छुरी बहत्तर पेंच,* रणेंद्र)

स्थानाभाव के कारण सभी कहानियों पर पूरी चर्चा यहां संभव नहीं। मगर सभी कहानियां अलग मिजाज़ की महत्वपूर्ण कहानियां हैं। तीन कहानियां मृत्यु और असीम दुख के साथ पाठक को छोड़ जाती हैं। तीन की परिणति ऐसे बिंदु पर होती है जहां से प्रतिरोध, संघर्ष, आशा की किरणें फूटती दिखती हैं। कहन की महारत हासिल है रणेंद्र को। स्थानीय शब्दों का प्रयोग हिंदी को नवीन सौंदर्य से समृद्ध करता है। इन शब्दों की अर्थछवियां कहानी के प्रभाव में भी वृद्धि करती हैं। इन कहानियों की एक अन्य बड़ी उपलब्धि यह है कि वे सधी हुई व्यंग्यात्मक भाषा में विकास भगवान की सृष्टि के प्रपंच को तार-तार करते हुए सत्ता-पूंजीवाद-सामंतवाद की क्रूर गुटबंदी को उघाड़ती हैं – फिर भी विकराल यथार्थ के बीच जीवन को अर्थ देने वाले, संजोकर रखने लायक़ तत्व पूरी मुलामियत से बचे रहते हैं। कहानी की अंडरटोन में प्रेम के कोमल राग की गूंज एहसास कराती रहती है कि ऐसे उदात्त प्रेमी और इनका प्रेम बचा रहे तो आदमियत का अंकुर किसी भी चट्टान को फोड़ कर उग आयेगा। इधर की कहानियों में इतने मनमोहक प्रेम प्रसंग कम ही मिले हैं।

मनोज रूपड़ा ऊंचाई पर दूरबीन रख कर समूचे युग का जायज़ा लेते हुए दिखते हैं। रणेंद्र के यहां 'संरचनागत हिंसा' या 'विकास के आतंकवाद' को अपने ऊपर झेलने वाले चेहरों की इतनी साफ़ लकीरें मौजूद हैं कि पाठक न केवल उन्हें पहचान पाता है बल्कि उनके लिए प्रेम से भर उठता है। युवा कहानीकार उमाशंकर चौधरी के कहानी संग्रह, *दिल्ली में नींद* की चार लंबी कहानियों में यथार्थ के दवाब को व्यक्ति के स्नायुओं पर पड़ने वाले असर के माध्यम से दिखाया गया है। कहानी की टोन प्रस्तावित करती नज़र आती है कि व्यक्ति-मन पर पड़ी खरोंचों का मूल वर्तमान के जटिल यथार्थ में कहीं है।

संग्रह की शीर्षक कहानी, 'दिल्ली की नींद' के मुख्य पात्र चारुदत्त सुनानी की ज़िंदगी नागरी जीवन की गुंजलक में फंसे और उसका दिमाग़

सनक जाये, घटनाक्रम को यह दिशा मिलती है उसके पिता शाक्यमुनि सुनानी के उड़ीसा की अपनी ख़ुशनुमा ज़िंदगी छोड़ कर महानगर दिल्ली में कूच कर जाने से। उमाशंकर की कहानियों में अक्सर गांव, क़स्बों के जीवन का नॉस्टेलजिया मिलता है। वहां के सुखविभोर जीवन के बाद गाड़ियों, बहुमंज़िला इमारतों, रौशनियों, विज्ञापनों से लदे-फदे शहर में आकर किरदार अजीब सी ग़फ़लत में पड़ कर सनक जाता है। लंबी कहानी, 'नरम घास, चिड़िया और नींद में मछलियां' में फुच्चु बाबू इलाज के लिए बेटे-बहू के पास आते हैं और कैंसरग्रस्त होने पर उन्हें वहीं ठहर जाना पड़ता है । वे गांव में प्रतिष्ठित मास्टर और होम्योपैथ हैं, पत्नी विद्योत्तमा के साथ भरापूरा गृहस्थ जीवन जी चुके हैं। गांव भर उनसे प्रेम और सहयोग पाता और देता है। शीर्षक से ही प्रकृति और चिड़िया, मछलियों के प्रति उनका प्रेम स्पष्ट है। ऐसे फुच्चु बाबू शहर की गाड़ी, लिफ़्ट, गहमागहमी, अकेलेपन से, रणेंद्र की भाषा में कहें तो 'भौंचक-भकुवा' गये, उन्हें जैसे 'ठक्क-मुक्की' लग गयी। जैसे-जैसे उनकी वापसी टलती रही उनका मानसिक तवाज़ुन बिगड़ता रहा। वे कभी फ़र्श को तालाब समझ मछलियों से बातें करते, कभी सड़क में दौड़ती गाड़ियों को चिड़ियां समझ कर बिस्किट खिलाते। कई दिनों से बंद एक बालकनी में पंछियों के पानी के लिए रखा गया सूखा कसोरा उन्हें बेचैन करता। अंत में अपार्टमेंट के नीचे बने स्विमिंग पूल से अंजुली भर कर बालकनी में बैठी चिड़िया की ओर पानी फेंकने की हास्यास्पद कोशिश करते हुए बेहोश हो कर वे गिर जाते हैं। हर किसी के साथ स्वस्थ रिश्ता रखने वाले सुलझे दिमाग़ के फुच्चु बाबू अपने पोते-पोतियों, बेटे-बहू के साथ कोई रिश्ता नहीं जोड़ पाये? स्वस्थ बोध का मनुष्य अपने परिवेश में कुछ ज़िंदा रच ही लेता है और बदली हुई स्थितियों से संगति बिठाता है। जिसका बेटा सालों से शहर में रह रहा हो, क्या शहरी जीवन से उसकी ज़रा भी वाक़फ़ियत न थी? लोगों का इलाज करने वाले, पढ़े लिखे मास्टर को 'सैनिटाइज़र' चौंकाता है, 'बायोप्सी' शब्द अजनबी लगता है। इन सब विवरणों से लगता है जैसे वे किसी दूसरे ग्रह / युग से आये हों।

32 पृष्ठों की कहानी, 'कहीं कुछ हुआ है, इसकी खबर किसी को भी न थी' के मुख्य पात्र वासुकी बाबू की पोस्टिंग 20 साल से 'भीतरगांव' नामक गांव में है। वे वहां व्यवस्थित और भरापूरा सुंदर जीवन जीते हैं, उनकी आत्मा इस गांव में धंस सी गयी है। बड़े बाबू के पद पर तबादला होने के कारण उन्हें कानपुर जाना पड़ता है तो शहर की सजधज देख कर फुच्चु की तरह वे भी 'भकुवा' जाते हैं। उनके लिए मुख्य समस्या है जवान होती बच्चियों के लिए सुरक्षित आवास की तलाश क्योंकि शहर और शहरवासियों पर तो भरोसा किया जा सकता नहीं। किसी तरह महीने भर की जद्दोजहद के बाद घर किराये पर लेते हैं। यहां भी बतौर स्टेटस सिम्बल ख़रीदी गयी उनकी कार चोरी होती और फिर लौटायी जाती है और धन्यवाद के तौर पर मल्टीप्लेक्स सिनेमा की चार टिकटें परिवार के लिए रखी हुई मिलती हैं। कहानी में जिस तरह उनका चरित्र बुना गया है, उसे देखते हुए यह विश्वसनीय नहीं लगता कि वे बेटी की शादी के लिए गहने और जीवन भर की पूंजी से भरा घर छोड़ कर रात का शो देखने के लिए सहर्ष तत्पर हो जायें। दरअसल इसी पूंजी को हड़पने के लिए चोर ने कार लौटाने की तरकीब इस्तेमाल की थी। इस बार पर्ची में लिखा मिलता है कि यह चमक-दमक, यह भव्यता सब छद्म है। सब धोखा है।

21 वीं सदी में शहर से चंद कि.मी. दूर रहने वाले वासुकी का पात्र इतना मासूम है कि उसने वर्तमान युग की धड़कन सुनी नहीं है, उसके प्रति सनक की हद तक पहुंचे संशय से भरा हुआ है। दूसरी ओर, वह एक गुमनाम शख़्स की बात बच्चे की तरह मान लेता है और अंत में उसी के शब्दों से वासुकी के शक का सही होना पुष्ट भी होता है। वैसे वे एनडीटीवी में रवीश कुमार और अभिज्ञान प्रकाश को देखते सुनते हैं। गांव के दिनों से ही 'ज़ूम' और 'चैनल वी' पसंद करने वाली, सी.डी. प्लेयर पर नयी मूवीज़ देखने वाली बेटियां शहर की पढ़ाई के बावजूद अपने परिवेश के प्रति क़तई जागरूक नहीं। घर की पूरी कमान वासुकी के हाथ में है, बाक़ी पात्र सिर्फ़ अनुसरण करते हैं। मगर बड़ी बेटी के इस सुझाव पर, कि इससे लड़के वालों पर रौब पड़ता है, कार ख़रीदी जाती है। उसे पिता की पूरी जमा-पूंजी दहेज में लुटा कर वर जुटाये जाने से कोई आपत्ति नहीं है। उसका जीवन-साथी खोजने की प्रक्रिया में उसके गुणों और पढ़ाई आदि का कोई जिक्र नहीं, सिर्फ़ दहेज की रक़म पर बात होती है।

भीषण मजबूरी में ही उमाशंकर चौधरी के पात्र गांव का सुखमय जीवन छोड़ कर शहर जाने को राज़ी होते हैं और वहां सब लुटा बैठते हैं। मगर समुद्र और मछलियों से बेतहाशा प्यार करने वाले शाक्यमुनि सुनामी के जीवन में ऐसी कोई भीषण परिस्थिति न थी। सब अच्छा चल रहा था। अचानक उसके दिमाग़ को यह अजीब ख़याल डस लेता है कि एक दिन समुद्र का पानी ख़त्म हो जायेगा और मछलियां मर जायेंगी। यह पागलपन बेहद बढ़ जाने पर वह सिर्फ़ इसलिए दिल्ली में बस गया क्योंकि वहां समुद्र नहीं है इसलिए ख़त्म होने का डर भी नहीं रहेगा। शाक्यमुनि के दिमाग़ के गड़बड़झाले के पीछे कोई दुष्कर परिस्थिति या परिवेशगत कारण नहीं । वह एक अजीब और अबूझ तरीक़े से अपने आप ही फिर गया। उसके दिल्ली बसने पर उसका परिवार अथाह उठापटक झेलता है। लिहाजा चारुदत्त के मानसिक दबाव के लिए तो भरपूर ठोस कारण मौजूद ही हैं। उसकी पढ़ाई, भाषा, समुद्र, विकास के रास्ते सब छूट जाते हैं। बड़े होने पर वह एक कबाड़ जैसी दुकान पर चोट खायी हुई गाड़ियों के ज़ख़्म निकालने का काम करता है। उसकी शादी ख़रीद कर लायी हुई ग़रीब लड़की मृगावती से होती है। मां द्वारा बचाये गये और गैरेज से मिले पैसों से अपना कहने भर को एक छोटे से आवास का वह बंदोबस्त करता है। किसी तरह ज़िंदगी घिसट रही थी। हालांकि एक डरपोक असामान्य बच्चे, चुप्पा बीबी और जवान होती लड़कियों को बस्ती में होने वाली दिक्क़तों से उसके मन में रगड़ पड़ती, लेकिन उसका मन मान लेता कि दिल्ली में हवा, पानी, भोजन सब है पर सब कुछ बहुत कम। मॉल के ख़ातिर बस्ती ख़ाली करवाये जाने से कहानी में मोड़ आता है। अब उसे अपने छोटे से आवास के एवज़ में इतनी दूर फ़्लैट दिया जाता है कि कबाड़ के बीच गैराज में ही उसे रातें बितानी पड़ती हैं। रात भर नींद न आने और शहर की चकाचौंध और गहमागहमी के बीच टहलते रहने का सिलसिला यहां से शुरू होता है। दिमाग़ में कीड़े पड़ने की बीमारी भी उसे हो जाती है। अचानक कुछ पलों के लिए वह सुन्न पड़ने लगता है। पीड़ाओं के इस घटाघोप में घिरने पर रात घर लौटने की संभावना ख़त्म होती जाती है। कहानी के अंत में उस पर सनक सवार हो जाती है कि वह गैराज से अपने घर तक सुरंग खोदेगा। पात्रों के दिमाग़ की ख़लल उन्हें वास्तविक समस्याओं के असंभव समाधान खोजने

की ओर ठेलती है और पाठकों को?

सामूहिक स्नानघर के झीने परदे की आड़ में नहाती बेटियों को गली के शोहदों द्वारा ताड़ना हो या असहनीय बदबू और गंदगी की दिक्क़तें, ये वहां के बाशिंदों की साझा समस्याएं होंगी। मिलकर आपस में हल निकलने की कोई सूरत हो भी सकती थी, लेकिन इस कहानी में उसकी तलाश नहीं है। निर्धन की तो ताक़त ही सामुदायिकता है। इतने कम संसाधनों में नितांत अकेले वह भला कैसे रह सकता है? घर में तीन जवान लोग चुपचाप मूक टी.वी. के सामने बैठकर उम्र में बड़े हुए जा रहे हैं। बड़ी बेटी का स्कूल पैर में फोड़ा होने के कारण और बाद में छोटी का दूरस्थ जगह पर शिफ़्ट करने के कारण छूट जाता है। पत्नी तो पहले से ही ना के बराबर बोलने वाली अनूठी स्त्री है, बेटे को शोर से दौरे पड़ते हैं इसलिए घर म्यूट मोड में ही रहता है। इतने सारे विशिष्ट पात्रों का एक ही घर में होना और वह भी इस वर्ग में, सहज नहीं लगता। विपरीत परिस्थितियों से जूझने के लिए पत्नी और बेटियां कुछ भी काम नहीं करतीं। यहां तक कि शिकायत तक नहीं। इंडिया और भारत के अंतराल या उग्र पूंजीवाद के असर में विकराल होती स्थितियों के बारे में पाठक कैसे सोचे? हालांकि ये ठोस स्थितियां ही उनकी ग़रीबी और दूरदराज बसने का कारण रही होंगी। कहानी ऐसे यथार्थ के बोध की दिशा में नहीं ले जाती। मगर कहानीकार की वर्णन क्षमता लाजवाब है। पूरा लोकेल मन की आंखों के समक्ष सजीव हो जाता है। इमानुएल कांट ने कहा था कि मनुष्य प्रकृति में हस्तक्षेप कर सकता है, अपने परिवेश को बदल सकता है। ज्ञान की दुनिया में यह बड़ा शिफ़्ट था। इन कहानियों के पात्र इस बोध के पहले के समय के प्रतीत होते हैं। उन्हें एक सुरंग बना कर वह कालावधि पार करके समकाल में आने की ज़रूरत है। शायद कहानी में आयी सुरंग इसी का प्रतीक हो।

'कम्पनी राजेश्वर सिंह का दुख' में राजेश्वर शहर आये बिना गांव में ही सनक जाता है । शानदार, ठाटदार ज़िंदगी जीने के बाद उम्र के उत्तरार्द्ध में इस दयनीय अवस्था के पीछे कारण है पुत्र पैदा ना होना। कहानी का वाचक इनका भतीजा है। अपने विशाल रुतबे के कारण कम्पनी का दर्जा पाये राजेश्वर के बड़े भाई यानी वाचक के पिता नर्मदेश्वर जन्मना अपंग हैं, इस कारण उन्हें घर में कभी बड़े बेटे, बड़े भाई, ख़ानदान के वारिस का सम्मान नहीं मिला बल्कि दादा कामेश्वर तब तक लज्जित ही महसूस करते रहे जब तक उनका स्वस्थ हृष्टपुष्ट दूसरा बेटा राजेश्वर पैदा नहीं हो गया। बाद में पिता शहर जाकर पढ़ाई पूरी करके प्रोफ़ेसर भी हो जाते हैं तब भी घर में यथोचित सम्मान नहीं मिलता। उनके तीन बेटे होते हैं तब भी नहीं। कालांतर में जब चाचा की छह बेटियां होती हैं और बेटा नहीं, तब वे शर्मिंदा महसूस करने लगते हैं और अपनी पत्नी के साथ दुर्व्यवहार भी करते हैं। शहर से आयी जागरूक जेठानी ही अपनी देवरानी का साथ देती है। देहाती जीवन को घोंटने वाली सामंती जकड़नों की अमानवीयता इस कहानी में साकार होती है। स्त्री-मुक्ति के सूत्र बहनापे में होने का संकेत भी कहानी देती है।

अन्य कहानियों में गांव की मोहमयी याद है, मगर लिंग और जाति की विषमता, अंधविश्वास और अज्ञान के अंधेरे का ज़िक्र नदारद है। अपंग बेटे के निरादर की समस्या का निराकरण उसके तीन पुत्रों के होने से होता है। इक्कीसवीं सदी की कहानी में क्या यह सामंती मूल्य समाधान की तरह चित्रित किया जा सकता है? अपने अंत समय में राजेश्वर गिड़गिड़ा कर बड़े भाई से उसका बेटा मांगता है ताकि उसका अंतिम संस्कार पारंपरिक ढंग से हो सके। चाचा की बेटियां बड़ी हुईं, संस्कारी हुईं और अपने ताऊजी द्वारा ब्याही गयीं। उनका 'परिचय इतना, इतिहास यही....' क्या आज के समय में संभव है? कहानी में प्रतिगामी मूल्यों का सबल प्रतिकार नहीं दिखता। है भी तो इतना क्षीण है कि समाधान के पश्चमुखी प्रभाव को दरकाने में उसे सक्षम नहीं माना जा सकता।

इन कहानियों का शिल्प समकालीन है लेकिन कथ्य साठ सत्तर साल पहले का प्रतीत होता है। लंबी कहन का ढांचा समकालीन कहानी का लक्षण है। लेकिन कथ्य या विषयवस्तु छोटे कलेवर में अट सकते हों तो कहानी के पारंपरिक आकार में इसे लिखने में क्या हर्ज़ है? इन कहानियों को फ़ैंटेसी या अतियथार्थवाद के ख़ाने में डालना भी संभव नहीं। ऐसी कहानियों में जो आंतरिक तर्कसंगति होती है, वह इन कहानियों में क़ायम नहीं रहती, बल्कि संघर्षों से विमुख पात्र विद्रूप तक पहुंच जाते हैं और पाठक में भी प्रतिरोध की कोई चेतना नहीं जगाते।

उमाशंकर चौधरी के पास कहन और वर्णन की अद्भुत क्षमता है। जीवंत ब्यौरों और प्रभावी शीर्षकों से गुज़रते हुए लगते रहता है कि कहानीकार को कहानी कहना बख़ूबी आता है। लंबी कहानी का ढांचा, जिसमें एक सजग निगाह से अगणित सूत्रों को एक साथ थामना होता है, इस समय के जटिल और बहुआयामी यथार्थ को उद्घाटित करने की बेचैनी से उपजा है। लंबी कहानी कहानीकार की साफ़ दृष्टि की लय में लिपटी न हो तो बिखर जाती है। उमाशंकर चौधरी की कहानियां उत्कृष्ट वर्णनों और चित्रणों की कोलाज सरीखी हैं, जिनके चंद हिस्से बहुत आकर्षक और चमकदार बन पड़े हैं। दार्शनिक जुमले और सूत्रवाक्य कहानी में आते रहते हैं, मसलन, 'मोहब्बत करना सीखो। हम जो चोट यहां देता है वह ज़ख़्म भरने के लिए देता है न कि ज़ख़्म देने के लिए।...तुम बोलो कला के बिना बचेगी दुनिया।' (पृ. 72-73, 'दिल्ली में नींद', उमा शंकर चौधरी) इसी वाक्य को सुनकर सुनानी कार के ज़ख़्म निकालने वाला कुशल कारीगर बनता है। सार यह कि टुकड़ों-टुकड़ों में कई चीज़ें प्रभावित करती हैं। मगर ये वर्णन, ब्यौरे, और सूत्रवाक्य संश्लेषित होकर समग्रतः एक मूल्यवान अनुभव या विचार नहीं बनते। इसलिए कहानियां अपने समूचेपन में पाठक की चेतना को समृद्ध नहीं कर पातीं।

मो. 8383029438

पुस्तक संदर्भ :

1. ***टावर ऑफ़ साइलेंस*** **: मनोज रूपड़ा, आधार प्रकाशन, 2020**

2. ***छप्पन छुरी बहत्तर पेंच*** **: रणेंद्र, आधार प्रकाशन, 2020**

3. ***दिल्ली में नींद*** **: उमाशंकर चौधरी, राजकमल प्रकाशन, 2020**

वैश्वीकरण के दौर में देशज समीकरणों की कहानियां

सत्यप्रकाश सिंह

हमारे आसपास की दुनिया जिन स्थितियों में ज़िंदा बने रहने की जद्दोजेहद कर रही है उसकी तमाम सूचनाएं वैसे तो हमें उपलब्ध हैं ही, लेकिन उसके बावजूद क्योंकि जद्दोजेहद अभी भी शेष है, कहानी भी वहां बची हुई होगी ही। जाने-पहचाने सच की कहानी कहने के लिये सिर्फ़ साहस की ही नहीं, पक्षधरता की भी ज़रूरत होती है। इसी पक्षधरता को रेखांकित करती हुई कहानियां हैं, कथाकार टेकचंद की कहानियां। अपने नये कहानी संग्रह, *मोक्ष और अन्य कहानियां* के साथ कथाकार टेकचंद ने अपने इसी साहस और पक्षधरता को फिर से दोहराया है। दिल्ली देहात और आसपास के बॉर्डर पर बसे गांव का भूगोल टेकचंद की कहानियों में अपनी मुखर उपस्थिति रखता है। न केवल बोली-बानी के रूप में अपितु सामाजिक विन्यास और उसके उभरते नये रूपों के संदर्भ में भी।

उदाहरण के तौर पर टेकचंद की 'मोलकी' जैसी कहानी इसी भूगोल का भीतरी दृश्य रचती है। जिसे हम पहले से ही जानते हैं, जिस पर बारंबार और काफ़ी सनसनीखेज कहा और लिखा जा चुका है उस पर फिर एक कहानी लिखना सिर्फ़ साहस ही नहीं कुछ और भी है। शायद अपनी तरफ़ से फिर एक और कोशिश, जो उस स्थिति को, जिसमें एक मनुष्य अब भी ज़िंदा है, रोमांच और सनसनी से मुक्त कर उसकी अपनी वास्तविक बीहड़ता में कहने से जुड़ी है। ज़िंदा लोग जिन श्मशानी स्थितियों की गिरफ़्त में हैं उनकी शक्लोसूरत को, उनकी रोज़ाना ज़िंदगी को, उस स्थिति में होने की उनकी अकुलाहट को बिना किसी पर्दे के कहने की चेष्टा ही इस संग्रह की कहानियों को बारंबार परिचित विषयों, सत्यों और मुद्दों की तरफ़ साहस के साथ लेकर जाती हैं।

बढ़ता शहर-बाज़ार और सिकुड़ता गांव-समाज तफ़सील के साथ टेकचंद की कहानियों में अपनी जगह पाता है। बाज़ार और शहर को आंधी की तरह देखने की चेष्टा टेकचंद के साथ ही, सोनी पांडेय के कहानी संग्रह, *बलमा जी का स्टूडियो* की कहानियों में भी मिलती है। बाज़ार और बाज़ार के अनुकूल ढलती जीवनस्थितियां जैसे टेकचंद की कहानियों में देखने को आती हैं, वैसे ही सोनी पांडेय की कहानियों में भी हमें दिखलायी पड़ती हैं। टेकचंद की कहानियों में जो भूगोल विद्यमान है वह वर्तमान भी है। वहीं की कहानियों में 'भूगोल' का जो हिस्सा गांव से जुड़ा हुआ है, वह या तो विगत की सीमा पर खड़ा है या फिर बीत ही चुका है। लेकिन हाट-बाज़ार का बढ़ता वर्चस्व दोनों ही कथाकारों की कहानियों में प्रतिपक्ष की भूमिका लेता है। बाज़ार का फैलाव और तत्स्वरूप समाज के सिकुड़ने-सिमटने की प्रक्रिया की बायनरी इन दोनों ही कथाकारों की कहानियां बनाती हैं। हालांकि, सोनी पांडेय की कहानियां टेकचंद की तुलना में डिटेल्स से ज़्यादा भरी हुई कहानियां हैं। एक 'शहराती' के छूटे हुए गांव के डिटेल्स इन कहानियों के कोने-कोने में बैठे-बिखरे हैं। स्मृति के रास्ते वे कहानियों की तरफ़ जाते हैं। स्मृतियों में बसा अंचल अपने विवरणों समेत उभरता है। यहां तक की पीढ़ियों तक को अपने में समेट लेता है।

इसीलिए, सोनी पांडे की कहानियों में स्मृति का कथा की रचना में जिस तरह से इस्तेमाल किया गया है वह एक और बात को उभारता है -- देश और काल को। समय और स्थान का विगत और वर्तमान के दो परस्पर हिस्सों में विलग हो जाना, इन कहानियों में बेहद ही सफ़ाई के साथ दिखलायी पड़ता है। विगत की स्मृति वर्तमान की वास्तविकता के साथ इन कहानियों में कथ्य बनकर उभरती है एक टीस के साथ। वर्तमान में लौट कर वापिस न आ सकने वाले अतीत की टीस। हमारे शहर और बाज़ार की पीठ पर सवार वर्तमान का जो संबंध गांव के साथ बन चुका है, जो गांव विलोपित हो जाने की शंकाओं से भरा हुआ है, इन शंकाओं की एक रुंधी चीख़ सोनी पांडेय की कहानियों में है।

अवधारणा के स्तर पर बढ़ते शहरीकरण और बाज़ारीकरण की संज्ञाओं का इस्तेमाल इस कथ्य को ऐतिहासिकता देने के लिए किया जा सकता है, किंतु असल में समस्या उतनी भर है नहीं। गांव हों या फिर शहर, दोनों एक ही केंद्र से बंधे हुए हैं। आर्थिक तौर पर भी और राजनीतिक तौर पर भी। सामाजिक-सांस्कृतिक भूगोल गांवों को विशिष्टता देता तो है, किंतु वह ख़ुद केंद्र के बदलावों से इस तरह बंधा हुआ है कि केंद्र के स्तर पर घटित हुआ हरेक बदलाव इन गांवों के जाने पहचाने सामाजिक-सांस्कृतिक भूगोल से एक हिस्सा उठाकर विगत की सूची में डाल देता है। व्यवहार से उठ जाने के बाद, बस स्मृतियां ही तो शेष बचती हैं, जिनको दोबारा जीने का मतलब हरेक बार विलगाव और बीत जाने से जन्मी टीस से गुज़रना भर हो सकता है। हम उन्हें चाहकर भी अपने वर्तमान में दोबारा हासिल नहीं कर सकते।

ऐसे में दो तरह से सोचा जा सकता है। एक तरीक़ा यह हो सकता है कि हम इसे आने वाले समय की अपरिहार्यता मानकर आगे बढ़ने को चुन लें। समय तो शहरों की ही नहीं, स्मार्ट शहरों की दिशा में बढ़ चुका है। शहर ही भविष्य के समाज हैं। यह लगभग सुनिश्चित हो चुका है। गांव तो अब जल्द ही 'सफ़ारी' और ज़िंदा संग्रहालयों की तरह देखे जाने लगेंगे। लेकिन एक और तरीक़ा भी हो सकता है। वह यह कि जानी- पहचानी अवधारणाओं की जगह केंद्र और उसकी भावी नीतियों को देखा-समझा और उभारा जाये। जीवन और मृत्यु का युग्म यहां मिल सकता है। गांव और शहर के द्वैत की निस्सारता यहां देखी जा सकती है। विद्यमान जीवन, शहर और गांव, दोनों ही भूगोलों में, कैसे मृत्यु की तरफ़ बढ़ और बढ़ाया जा रहा

है, उसके दृश्य यहीं मौजूद मिलेंगे। बात कहीं दर्शन के खेमे की न लगने लगे, इसलिए दो उदाहरण एक साथ यहां रखे जा सकते हैं। पहला उदहारण टेकचंद की कहानी 'घड़ीसाज़' से है और दूसरा सोनी पांडेय की कहानी 'बलमा जी का स्टूडियो' से।

टेकचंद लिखते हैं, 'घड़ीसाज़ धनपत, गुटारी टेलर, पेमल कुम्हार, बलजीत डाकिया और शौक़ीन फ़ोटोग्राफ़र अक्सर ख़ाली रहते और बस अड्डे के भारी से नीम के पेड़ के नीचे बने चबूतरे पर जमकर ताश की बाज़ियों में लग जाते'। ताश खेलकर समय बिताना शौक नहीं, नीतिगत विस्थापन का परिणाम है। घड़ीसाज़, टेलर, डाकिया, फ़ोटोग्राफ़र एक तरफ़ पेशे हैं तो दूसरी तरफ़ लोग। बढ़ते बाज़ार ने पेशों को विस्थापित किया, और लोग अपने परिवार समेत ख़ुद ब ख़ुद विस्थापित हो गये। बाज़ार का फैलाव किसी अदृश्य की लीला से नहीं, राज्यसत्ता की मातहती में हो रहा है।

लीलाधर मंडलोई अपनी एक कविता में लिखते हैं, 'यह नार्थ ब्लाक है/ यह साऊथ / यहां बनते हैं/ आने वाले समय के मानचित्र/ हर 'नये मानचित्र में/ अमरीका विशाल होता जाता है'। मानचित्र, माने राष्ट्र-राज्य की भावी नीतियां, और हर राष्ट्रीय मानचित्र के बनने पर जहां अमेरिका और विशाल होता है, वहीं 'विगत' की राष्ट्रीय सूची भी विशाल होती है। राष्ट्र-नियंताओं की हर सूची राष्ट्र की भावी योजनाओं से देश को थोड़ा और बेदख़ल कर देती है। इस तरह हर नीति 'देशी' बेदख़लों की संख्या बढ़ाती है। ऐसे में क्या गांव और क्या शहर, सब एक ही केंद्र से बंधे एक सांझी नियति के लिए बाध्य हैं। अब यह अपील कि गांवों को शहरों से बचाइए, असल में एक भावुक रुदन को तो जन्म दे सकती है लेकिन किसी मज़बूत हस्तक्षेप को संभव नहीं बनाती। सोनी पांडेय का यह कहना कि 'आप बलमा जी के सत्य को तलाशने मेरे गांव का टिकट मत कटा लीजियेगा ...तलाशना हो बलमा को तो रोकिए हमारे गांवों को कंकरीट के जंगलों में बदलने से। देखिएगा बलमा मिल जायेगा किसी गांव की चट्टी पर गर्दन में कैमरा लटकाये... खचाक से आपकी फ़ोटो खींचते हुए कहेगा, स्माईल प्लीज' और फिर उसी नफ़ासत से गर्दन झुका कर कहेगा 'थेंक्यू'।'

हमारे समय की बायनरी को बाज़ार बनाम समाज या फिर गांव बनाम शहर के सांचों में देखने की कोशिश को नज़रिये के स्तर पर एक पुराना दोहराव कहा जायेगा। औपनिवेशिक और स्वातंत्र्योत्तर, दोनों ही समय इस नज़रिये का इस्तेमाल हो चुका है। इस नज़रिये ने चाहते न चाहते पूंजीवाद और शहर को लेकर एक मौन सहमति को ही जन्म दिया है। एक प्रकार की बाध्यता को जन्म दिया है। पूंजीवाद भविष्य है और सामंतवाद अतीत, इसी बौद्धिकी की तर्ज़ पर शहर और गांव को भी समझा-समझाया जाता रहा है।

न तो शहर पूंजीवादी भविष्य की गवाहियां हैं और न ही गांव ख़त्म हो चुके या हो रहे सामंतवाद के अवशेष। अब तो दोनों ही जगहों पर जन और जनता के ख़िलाफ़ एक ही केंद्र से संचालित शोषण की चक्की गतिमान है। गांव बनाम शहर के द्वैत से इस शोषण के विरुद्ध दोनों ही जगहों के नागरिक अकेले पड़ते हैं। एक ही समाज, उसके तमाम नागरिक, द्वैत को रचती एक अवधारणा के शिकार हो अपनी-अपनी मुक्ति के लिए अलग हो जाते हैं।

राज्य, बाज़ार और जनता का त्रिकोण हमारे समय के मूल द्वंद्व की रचना करता है। हमारे समय का फ्रेम असल में इसी त्रिकोण पर टिका है। समय को बदलने की हरेक मंशा को इस त्रिकोण को हिलाने-डुलाने की दिशा में ही बढ़ना होगा। प्रवीण कुमार का कहानी संग्रह, *वास्कोडिगामा की साईकिल* राज्य, बाज़ार और जनता के त्रिकोण के अदृश्य दृश्यों या फिर कहें लगातार छिपाये जा रहे दृश्यों को देखने-दिखाने की रचनात्मक मंशा से भरा संग्रह है।

वास्कोडिगामा की साईकिल संग्रह की कहानियां रेखांकित करती हैं, कि वैश्विक बाज़ार के तमाम राज्यों के स्वघोषित प्रजाप्रिय शासक प्रजा को चुनौती की तरह ले चुके हैं। प्रजा उनके लिए जीवन मरण का प्रश्न है। प्रजा का अनुकूलन ही 'राज्य' की उम्र है। जितना ज़्यादा अनुकूलन उतनी ही ज़्यादा उम्र। और, इस युद्ध के अस्त्र-शस्त्र खोजे गये हैं उन्हीं खोजों से जो शासन और शोषण की मंशाओं के साथ ही होती आयी थीं। इसी लिए 'भारत' की खोज अब तक या तो राजाओं ने की या फिर व्यापारियों ने। जनता ने अपने भारत की खोज अब तलक भी नहीं की है। राजाओं और बनियों ने देश खोजा और शासन किया। प्रजा ने देश न खोजने की सजा पायी और शासित हुई।

और ऐसा नहीं है कि जनता को 'परिभाषित' करने की खोजें आज जारी नहीं हैं। 'वास्को डी गामा की साइकिल' कहानी के भाई जी इसी खोज के यात्री हैं। कहानीकार की टिप्पणी है, 'ताश में बावन पत्ते होते हैं और राजनीति में तिरपन। हर माहिर खिलाड़ी यह तिरपनवा पत्ता ऐन मौक़े पर फेंकता है। तिरपनवे पत्ते का रंग जाति, धर्म, क्षेत्र, दल, के हिसाब से बदलता रहता है।' कहानी के भाई जी राजनीति के ऐसे ही माहिर खिलाड़ी हैं जो जानते हैं कि जनता के होते तो बावन ही पत्ते हैं, किंतु इसे खोज नहीं कहा जा सकता, साथ ही इसे मान लेने से राजा भी नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि राजा वही हुआ जिसके पास वह तिरपनवा पत्ता था और, यह तिरपनवा पत्ता है उस जनता की खोज जिसे राजाओं और व्यापारियों ने भिन्नताओं और विपरीतताओं में खोजा है, जिसे चलते ही जनता का खेल बिगड़ जाता है। जनता 'खेल' से बाहर हो जाती है।

जनता के भय, उसके दुःख और अभाव ही 'विषय' नहीं हो सकते, वह राजा भी विषय होना चाहिए जिसकी वजह से जनता के बीच पीढ़ियों तक के विस्तार में भय और दुःख फैले हुए हैं। उस राजा का भी तो कोई भय होगा, उसकी भी तो आशंकाएं होंगी! उन्हें ही, क्यों नहीं रचा जा सकता जनता में, जनता के लिए, भरोसे की तरह। प्रवीण कुमार की कहानियां इसी भरोसे को लेकर जन और जनता की निगाह से हिंदुस्तान की यात्रा करती कहानियां हैं।

धारणाएं और छवियां वैसे तो कोई बुरी चीज़ नहीं हैं। पर इधर के दशकों में इन्हें वैश्विक महाजनों और समाजार्थिक सवर्णों द्वारा, जिस तरह की व्यवस्थित भूमिकाओं में ढाला गया है, वे इन्हें अब हासिल सांस्कृतिक 'सिद्धियों' की तरह और बरतते जाने से सावधान ज़रूर करती हैं। इन धारणाओं और छवियों के सहारे कितने क़त्ल हुए हैं और कितनों की अनुशंसाएं की जा चुकी हैं, इसका अवलोकन अपरिहार्य हो चुका है। आपके

हमारे भीतर विराजमान ‘घृणाएं’ और ‘दुश्मनियां’ जिन रास्तों से दाख़िल हुई हैं, वे रास्ते किस मिट्टी से बने हैं, सोचना चाहिए। सोचते हुए आप ख़ुद को ‘सिद्ध पुरुष’ कहानी के उस ‘गोगिया’ की जगह खड़ा पायेंगे, जिसकी धारणाओं ने उसकी अपनी निगाह में ‘हीन’ एक अन्य को मार डाले जाने जैसी अनुकूलता की रचना की। आज धारणाएं साधारण हैसियत नहीं रखतीं। वे जीवन और मृत्यु की संभावनाओं को साथ-साथ लिये हुए हैं। इसीलिए, आज धारणाओं की ताक़त को देखना हो तो जाति, वर्ग, लिंग और धर्म को लेकर खुलेआम आयोजित होने वाली उन नोंच-खसोटों को देखिए, जिसमें फंसने वाला चीथड़ों में बदल जाता है और, मालूम भी नहीं पड़ता।

इसे मुख्य संकट की तरह देखे जाने में अब और देरी असल में स्युसाईडल एक्ट होगी, कि हमारी नागरिक निर्मिति को दुनियाभर के शासकों ने लोकली-ग्लोबली हिंसक, उन्मादी और कुंठित धारणाओं से नत्थी कर दिया है और, हम अपनी वैयक्तिक-सामाजिक निर्मिति में कुंठित नैतिकता और उन्मादी आदर्शों के विस्फोटकों में तब्दील होते चले जा रहे हैं। हम जिस ‘राजपथ’ पर चल पड़े हैं उसकी आने वाली नस्लें एक तरफ़ क़बीलाई उन्मादों से भरी होंगी और दूसरी तरफ़ इंसानी उदासियों से।

यह दौर इसी रास्ते पर चल पड़ा है। और यह जनता में नागरिक अनुभूति के लगातार असंभव होते जाने का रास्ता है। प्रवीण कुमार के इस ‘संग्रह’ की कहानियां इसी रास्ते धकेली जा चुकी जन-जनता-प्रजा में उस संभावना को रचती हैं, जिसे राजा और राज्य द्वारा हास्यास्पद भाषा में बदल दिया गया है। इस अर्थ में ये कहानियां राजा के विरुद्ध प्रजा का विलोमत्व रचने वाली कहानियां हैं। अपने समय के उस पंचांग को पढ़ने की चेष्टा से प्रेरित कहानियां, जिसके हरेक घर में देशी-विदेशी व्यापारी, श्रेष्ठी अपने-अपने उन प्रजाप्रियों के साथ विराजमान हैं, जिन्होंने विश्व के अधिकांश से जन-जनता-प्रजा को विस्थापित करने का यज्ञ भलीभांति जारी रखा हुआ है। इस जारी यज्ञ की ‘क्रोनोलोजी’ पकड़ने की चेष्टा, कथाकार प्रवीण कुमार के ‘संग्रह’ की कहानियों को वैश्विक बाज़ार के दौर की कहानियां बनाती है। वे बाज़ार, राज्य और जनता के त्रिकोण को देखने वाली कहानियां हैं, वैश्वीकरण के इस दौर में देशज के बदलते ‘समीकरणों की कहानियां।

मो. 9953486685

पुस्तक संदर्भ

***मोक्ष और अन्य कहानियां* : टेकचंद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2020**
***बलमा जी का स्टूडियो* : सोनी पांडेय, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, 2018**
***वास्कोडिगामा की साईकिल* : प्रवीण कुमार, राजपाल एंड संस, नयी दिल्ली, 2020**

अंतर्ग्रथित यथार्थ की कहानियां

अतुल सिंह

सुलगन कैलाश वानखेड़े का दूसरा कहानी संग्रह है। इससे पहले साल 2013 में *सत्यापन* कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ। *सुलगन* कहानी संग्रह में लेखक की कुल नौ कहानियां संग्रहीत हैं। 'उन्नति जनरल स्टोर्स', 'जस्ट डांस', 'आज कल, कल आज', 'गोलमेज़', 'उस मोड़ पर', 'कंटीले तार', 'खापा', 'काली सड़क' और 'हल्के राम'। इस संग्रह की पहली कहानी 'उन्नति जनरल स्टोर्स' है। कथावाचक कहानी को 'वह' की शैली में कहता है। कहानी सरकारी मुलाज़िम राजेश के वर्तमान और अतीत की स्मृतियों की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करती है। कहानी के आरंभ में ही एक बूढ़ा व्यक्ति अपनी अर्नेस्ट मनी (पेशगी) की वापसी हेतु राजेश से मिलने आता है। राजेश को वह जानता है लेकिन राजेश नहीं पहचान पाता है। वह राजेश से कहता है, 'याद है' यह वाक्य राजेश की स्मृतियों को कुरेदता है। राजेश फ़्लैशबैक में जाकर 'वह' को पहचाने की कोशिश करता है। दरअसल, राजेश इस शहर में बाइस साल बाद तबादला लेकर आया हुआ है। वह पाता है कि चौराहे नहीं मिलते, सड़क किनारे के पेड़ों का क़त्ल किया जा चुका है। वे साइन बोर्ड नहीं दिखते जो शहर के पेंटर बनाया करते थे। जिस भी जगह को ढूंढ़ रहा था वह वहां नहीं मिल रही थी। कैलाश वानखेड़े इस परिवर्तन के बहाने उदारीकरण के 'उदार' एवं 'समृद्धि' की 'हक़ीक़त को खोलकर पाठक के सामने रख देते हैं। 'विकास' की भारी क़ीमत चुकानी पड़ती है। नये बन रहे सांस्कृतिक परिवेश में व्यक्ति परायेपन के भाव से होकर गुज़रने लगता है। इस परायेपन का बोध कहानी में राजेश और 'वह' दोनों को है। इसी कारण 'वह' अपनी अर्नेस्ट मनी की वापसी के लिए परिचित की तलाश कर रहा होता है। परायेपन के बोध के अलावा कहानी में प्रेम, अपमान एवं जाति के रंग भी दिखते हैं। 'वह' दरअसल तीस वर्ष पहले 'उन्नति जनरल स्टोर्स' का मालिक होता है। उन्नति 'वह' की बेटी होती है और राजेश उन्नति के प्रति आकर्षित है। दुकानदार जान चुका था कि यह लड़का मेरी लड़की को फंसाने के चक्कर में है तभी तो दुकानदार (वह) ने कहा था, 'इधर-उधर ताको, झांको। तुम्हें क्या? रिज़र्वेशन के चलते नौकरी तो मिलती है।' (*सुलगन*, पृ. 18)

कैलाश वानखेड़े की कहानियों की यह विशेषता है कि व्यक्ति परिवेश से कटे नहीं हैं बल्कि उसी परिवेश से गुंथे हुए हैं, जिसमें वे जीवन को जीने के लिए जद्दोजहद कर रहे हैं। इसी कारण उनकी कहानियों में राजनीति, भ्रष्टाचार, आर्थिक नीति, जाति एवं व्यक्ति के अलगाव आदि रंग एक साथ गुंथे हुए दिखायी पड़ते हैं। 'जस्ट डांस' इस संग्रह की दूसरी कहानी है। इस कहानी का कथानक प्रेम, राजनीति, टीवी के रियलटी शो, विज्ञापन, समाचार चैनल, एंकर की भाषा, भारत माता, देशद्रोह, आरक्षण, जाति सेंसस, तानाशाही, दूसरी आज़ादी जैसे नारों के मिक्स्चर से तैयार होता है। कथा-वाचन 'मैं' की शैली में हुआ है, आभास यह कि लेखक ख़ुद इन घटनाओं का भोक्ता है। लेकिन कहानी में 'मैं' आकाश है। कथावाचक 'काल' का अतिक्रमण कर वर्तमान, अतीत और भविष्य की चिंता में आवाजाही करता है। कभी-कभी कथानक का निर्माण स्मृति के स्तर पर निर्मित होता है तो कभी यह लगता है कि लेखक रोज़नामचा लिख रहा है। 'कथावाचक' फिर ख़यालों में गुम हो जाता है। 'आंटा गूंथता हूं। उसके ख़यालों में होता हूं। सिगड़ी पर ख़ुद को पाता हूं और गूंथे आटे में उसको।' (वही, पृ. 22) कुल मिलाकर 'वह' अभिशप्त का बोध पाता है और उसी परिवेश में 'वह'(आकाश) अपने प्रेम के लौट आने की उम्मीद रखता है। लेकिन उसके प्रेम पर ग्रहण उसकी आर्थिक एवं जातिगत दोनों हैसियतों से लगता है।

'जस्ट डांस' कहानी में आकाश के घर का दरवाज़ा उसको ख़ुद की हैसियत और दुनिया की 'हक़ीक़त से रूबरू करवाता है। कहानी में तीन बार दरवाज़े पर दस्तक होती है। हर बार वह रोमांचित होता है कि 'वह' आ गयी। लेकिन जन्नत की 'हक़ीक़त कुछ और होती है। पहली बार उसका दोस्त प्रेमशंकर दरवाज़ा खटखटाता है। प्रेमशंकर 'वह' को इस यथार्थ से परिचय करवाता है कि तेरे पास पंखा है, तू आवासहीन नहीं है, भले ही किराये के मकान में रहता हो और सबसे क़ीमती चीज़ कि टीवी है तुम्हारे पास, तो 'बंधु, सरकार तेरे को ग़रीब मानती नहीं और लोग तुझे अमीर समझते नहीं।' (वही, पृ. 25) इसीलिए 'देख, भाभी की नज़र में तो तू ग़रीब है। तेरे पास कार नहीं है।' (वही, पृ. 25) दूसरी बार दरवाज़े पर 'आकाश' को जातिगत जनगणना करने वाला टीचर मिलता है जो बंद लिफ़ाफ़ा देखकर ख़त का मज़मून भांप लेता है। बिना पूछे, 'वह' को देखकर जान लेता है कि वह क्या है? जाति, धर्म, भाषा का कॉलम ख़ुद ही भर लेता है, क्यों? 'सड़क को देखकर पूंछू, तेरा रंग क्या है? डामर के साथ क्या मिलाया है? ये तो वेबकूफी होगी ना।... मालूम है तुम लोग बनवासी होते हो। झाबुआ, भूरिया तो तुमने बताया बाक़ी तुम्हें देख-सुन के सब लिख लिया तो क्या ग़लत लिखा मैंने?' (वही, पृ. 30) तीसरी बार दरवाज़े पर गुलाब की दस्तक होती है। जिस चिट फ़ंड कंपनी में 'वह' काम करता है वहीं गुलाब चपरासी, चौकीदार, घरेलू नौकर सब है। गुलाब मुस्तैदी के साथ 'वह' को सूचित करता है, 'सेठ जी' ने बुलाया है। रविवार के दिन 'वह' को सेठ जी द्वारा बुलाये जाने का कारण यह है कि 'अन्ना जीत गये हैं। दूसरी आज़ादी मिल गयी है। सेलिब्रेट करना है। दिल्ली में वो जूस पियेंगे इधर हम भी जूस पियेंगे... अंगूर का' (वही, पृ. 32) और कार स्टार्ट नहीं हो रही है अतः तुम दोनों कार को धक्का लगा दो। लेकिन ऐसा होता नहीं है, 'वह' प्रतिरोध दर्ज करता है और कहता है 'धक्का आप लगा लो। स्टार्ट मैं करता हूं।' (वही, पृ. 32) ऐसा सुनकर चिटफ़ंड कंपनी के एरिया मैनेजर विनय बिना नज़र मिलाये अपने घर के भीतर घुस जाता है। 'वह' के साथ 'गुलाब भी कीचड़ से बाहर निकलने के लिए क़दम बढ़ाता है।' (वही, पृ. 33)

'कंटीले तार' इस संग्रह की छठी कहानी है। कहानी अग्रवाल दंपति की है जो कि शहर के सिविल लाइंस इलाक़े में रहता है। लोक और परलोक दोनों तरह की चिंता करने वाले जीव हैं अग्रवाल साहब। अग्रवाल साहब की दो बलवती इच्छाएं है कि उनके बागड़ में कोई जानवर घुस नहीं पाये और दूसरा यह कि अपना देश भ्रष्टाचार से मुक्त हो जाये। बागड़ अग्रवाल साहब की फुलवारी है जहां वे बाग़वानी करते हैं और किसिम-किसिम के पेड़ लगे हुए हैं। तमाम जतन करते हैं। कभी घर के फ़ालतू पड़े सामान से बाड़ेबंदी करते हैं तो कभी बबूल की कटी डालियों से। बन गये फांक को भरते रहते हैं। भ्रष्टाचार से मुक्त देश तो अग्रवाल साहब चाहते हैं लेकिन अपना लोक बिगाड़कर नहीं। जिस सरकारी आवास में अग्रवाल दंपति रहते हैं वह उनके नाम पर आवंटित नहीं है, बल्कि किसी गुप्ता जी को आवंटित है क्योंकि वे सरकारी मुलाज़िम होते हैं। अग्रवाल साहब तो किसी अंतर्राष्ट्रीय कंपनी में कर्मचारी हैं। यह तो उनके पिता जी का प्रताप है कि किसी रिश्तेदार के माध्यम से उनको कंपनी में फ़िट करवा दिया। कंपनी वालों को सिविल लाइंस में रहने के लिए सरकारी आवास नहीं मिलते हैं। अग्रवाल जी की तरह उनके पिता जी की भी बलवती इच्छा होती है, जो कि इस प्रकार है, बेटा अधिकारी बने और सरकारी बंगले में रहे। आरक्षण के चलते पहली तो पूरी नहीं होती लेकिन दूसरी के लिए जुगत भिड़ाते हैं। पिता जी की इस इच्छा की पूर्ति उनके दोस्त दीन दयाल गुप्ता उर्फ़ डी.डी. गुप्ता के मार्फ़त पूरी होती है। गुप्ता जी अपडाउन करते हैं। वैसे इस सरकारी बंगले का सरकारी किराया साढ़े सात सौ के बदले अग्रवाल जी बिना नागा हर महीने गुप्ता जी को दो हज़ार रुपया भिजवा देते हैं। दर असल, इस कहानी में कहानीकार मध्यम वर्ग के पाखंड को उजागर करता है। अन्य कहानियों की तरह इस कहानी में भी कैलाश वानखेड़े ने राजनीति एवं सामाजिक अंतर्विरोधों से परिवेश को बनाने की कोशिश की है। लेकिन कोशिश की अतिशयता ने कभी-कभी कहानी में क़िस्सागोई को शिथिल भी बनाया है। तब कहानी-कहानी न होकर कुछ और होने लगती है। क़िस्सागोई की रिक्तता के चलते इस संग्रह की कहानियां ठहर कर पढ़ने की मांग करती हैं।

कहानी लेखन में राशि चक्रों का इस्तेमाल करते हुए प्रचंड प्रवीर ने कुल ग्यारह कहानियां लिखी हैं। ये कहानियां उनके दो संग्रहों, *उत्तरायण* और *दक्षिणायन* में संकलित हैं। *उत्तरायण* में मकर, कुंभ, मीन, मेष, वृष: सिटी लाइट्, मिथुन है और *दक्षिणायन* में कर्क, सिंह, कन्या: भिन्न, वृश्चिक संक्रांति और धनु संग्रहीत हैं। प्रचंड प्रवीर के ये दोनों संग्रह वर्ष 2019 में ही प्रकाशित हुए हैं।

उत्तरायण संग्रह की दूसरी कहानी 'कुंभ' है। कहानी मुख्यतः विपिन कुमार की है जो अपना सरनेम कुंभकार लिखता है। विपिन आई.आई.टी का छात्र है। ग्रामीण परिवेश से आता है अतः अंग्रेज़ी भाषा व्यवहार में तंगी महसूस करता है। पढ़ाई में अरुचि हो जाती है। क्लास बंक करता है। कहानी का वाचक उसको पढ़ने-लिखने और आगे बढ़ने के लिए निरंतर प्रोत्साहित करता है। कथावाचक कहानी में ख़ुद मौजूद है। अपने जीवन में बने फ़ार्मूले के तहत विपिन कुमार की तरह के लोगों से मिलने और बातचीत करने का फ़ैसला करता है क्योंकि उसके बैच का हेमंत कुछ इन्हीं परिस्थितियों के कारण आत्महत्या कर लेता है। कथावाचक ने ख़ुद आइ.एस.बी. हैदराबाद से मैनेजमेंट की डिग्री ली है। वस्तुतः कहानी उच्च शिक्षा जगत की विसंगतियों पर बातचीत के लिए आमंत्रित करती है। ऐसा माहौल जहां अंग्रेज़ियत एवं सामंती मानसिकता के चलते परिस्थिति दमघोंटक हो जाती है। इस क्रम में रोहित वेमुला एवं अन्य उसी तरह के युवाओं की दुर्घटनाओं को याद किया जा सकता है। कहानी में विपिन कथावाचक से मिलने से कतराने लगता है क्योंकि कथावाचक की हमदर्दी उसे तरस खाने जैसी लगने लगती है। इसके बजाय विपिन 'सचिन शतभिषक' की संगति पसंद करता है। क्योंकि वह भी विपिन की तरह कुंभ राशि का है और गांव के ग़रीब घर से आया है।

इस संग्रह की अगली कहानी 'मीन' शीर्षक से है। यह कहानी एक परिवार के तीन बच्चों दिलीप, मैत्रेयी, वीणा और रेवती सिन्हा की स्मृतियों की है। रेवती सिन्हा काफ़ी रसूख़ वाली महिला हैं जिनसे मिलने मुख्यमंत्री तक आते हैं। अंग्रेज़ों के ज़माने के जज की बेटी हैं। जमलापुर में पहाड़ के पास उनकी बड़ी कोठी है। वह ख़ुद बिहार की बड़ी कलक्टर रही हैं। एक दिन दिलीप घर से भागकर शहर से दूर रेवती सिन्हा की कोठी पर जा पहुंचता है। पता चलने पर रेवती सिन्हा दिलीप को उसको घर छोड़ने आती हैं। जाते समय दिलीप के मां-पिता से आग्रह करती हैं, वे रविवार के दिन अपने बच्चों दिलीप, मैत्रेयी और वीणा को कोठी पर भेज दें। बच्चे कोठी पहुंचते हैं। यहां रेवती सिन्हा मैत्रेयी और वीणा के साथ एक खेल खेलती हैं। खेल इस प्रकार होता है कि वह वीणा और मैत्रेयी की कमर में लाल रिबन का एक सिरा बांध देती हैं और दूसरा सिरा पियानों के पावे में। रेवती सिन्हा पियानो पर कोई धुन बजाने लगती हैं और कहती हैं कि तुम लोग भागो, लेकिन याद रहे कि रिबन खुलना नहीं चाहिए। कहानी में यह संकेत है, मानों कथाकार यह कह रहा है कि सबके हिस्से की आज़ादी एक डोर से बंधी हुई है, इजाज़त तभी तक जब तक यह डोर खुलती नहीं है। कहानी में कथाकार ने इस संदर्भ में सूक्ष्मता का परिचय दिया है। बहुत सी बातें स्पष्ट होते-होते रह जाती हैं। आख़िर रेवती सिन्हा पति के होने या न होने, किस स्थिति में आज़ाद थीं? गर पति के न होने पर बंधी महसूस करती हैं तो यह बंधन किस बात का है? 'पर एक दिन... मेरे पति चल बसे और उस दिन के बाद से मुझे लगा मैं उतनी ही आज़ाद हूं जितनी अभी तुम हो। जितनी लंबी यह डोरी तुम्हारी कमर से मैंने बांध रखी है।' (*उत्तरायण,* पृ. 147) इस कथन के बाद कहानी में रेवती सिन्हा के पूर्व के जीवन के बारे में किसी प्रकार का विवरण नहीं मिलता है।

उत्तरायण संग्रह की अंतिम कहानी 'मिथुन' है। यह कहानी लखनऊ शहर से पचास मील दूर स्थित गांव में बसे राजेंद्रनाथ सिंह और उनके परिवार के इर्द-गिर्द बुनी गयी है। राजेंद्रनाथ सिंह के पास अच्छी ख़ासी जायदाद है। किसी ज़माने में इनके पूर्वज कई सौ एकड़ के मालिक थे। घर-परिवार बंटा तो ज़मीन-जायदाद भी बंट गयी। बूढ़े होते राजेंद्रनाथ सिंह की दो इच्छाएं हैं. पहली, उनके जाने के बाद इस ज़मीन जायदाद को कौन देखेगा और दूसरी चिंता एक पुराना पुलिस केस है। ज़मीन के झगड़े में तैश में आकर उन्होंने बंदूक़ उठाकर गोली चला दी थी। दुलानी से निकली गोली केवल छू कर गुज़र गयी थी। केस तो ले-देकर रफ़ा-दफ़ा हो गया होता अगर गवाह किशोर लोहार गवाही से मुकर गया होता। न जाने उसे कितने पैसे मिले या किसने क़सम दी, उसने गवाही में ज्यों का त्यों बोल दिया। गर्मी की छुट्टियों में राजेंद्रनाथ सिंह के बड़े बेटे सुरेंद्र का पुत्र उदय और उसका

चाचा प्रमोद साथ ही बहनें अपने बाल-बच्चों के साथ गांव आते हैं। यहीं गांव-घूमते समय उदय की मुलाक़ात संजय से होती है। संजय किशोर लोहार का छोटा बेटा है। संजय की भी दो ख़्वाहिशें हैं कि उसके जन्मदिन पर उसके घर में केक आये और दूसरी यह कि कार में घूमें। संजय को इसकी पूर्ति उदय के बहाने से होती हुई दिखती है। अच्छा है कि कहानीकार अमीर और ग़रीब को बाइनरी में बांटकर नहीं देखता है। किशोर की बड़ी बहन सुनीता कहती है, 'तुम बुद्धू हो। अमीर लोग ऐसे ही होते हैं। आज पूछ लिया है। कल शायद न पहचाने।' (*उत्तरायण*, पृ. 170) कथाकार इस बोध का अतिक्रमण करता है। किशोर और उदय के बालसुलभ दोस्ताना संबंध को तवज्जो देता है।

इस संग्रह की कहानियों में पाठक प्रचंड प्रवीर की क़िस्सागोई की क्षमता से परिचित होता है। पठनीयता संग्रह की विशेषता है। वाचक कथासूत्र को एक बार पाठक को पकड़ाकर कभी उपस्थित और कभी अनुपस्थित होता रहता है, लेकिन पाठक निरंतर कथा रस में अपने को डूबा हुआ पाता है। प्रचंड प्रवीर सिनेमा और विश्व साहित्य के अध्येता हैं अतः उनके संदर्भ इनकी कहानियों में मिलते हैं। इसके अलावा इनके यहां ज्योतिष, खगोलशास्त्र, मिथ कथाएं भी निरंतर मिलती हैं। इन सबसे मिलकर इनकी कहानियों का आस्वाद बनता है।

मो. 7827076372

पुस्तक संदर्भ

1. *सुलगन* : कैलाश वानखेड़े, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019
2. *उत्तरायण* : प्रचंड प्रवीर, नित्य प्रकाशन, जयपुर, 2019

जगमगाती रोशनियां

(सफ़दर हाश्मी, नागार्जुन, रघुवीर सहाय)

रविभूषण

एक साहित्य-रूप में 'जीवनी' को स्वीकृति और मान्यता 18वीं सदी के अंत में जेम्स वास्वेल (29.10.1740-19.5.1795) लिखित सैमुअल जॉनसन (18.9.1709-13.12.1784) की जीवनी, द *लाइफ़ ऑफ़ सैमुअल जॉनसन* (1791) के बाद मिली। पश्चिम में जीवनी-लेखन की प्राचीन परंपरा है। सुकरात (469-70 ईसा पूर्व - 399 ईसा पूर्व) के छात्र जेनोफ़ोन (430-40 ईसा पूर्व - 354 ईसा पूर्व) ने चार 'बुक्स' के 39 अध्यायों में सुकरात पर *मेमोरैबिलीआ* लिखा और प्लूटार्क (46 ईसवी -120 ईसवी) ने 48 प्रसिद्ध व्यक्तियों की जीवनी लिखी, *पैरेलल लाइव्स*। हिंदी में जीवनी-लेखन की अधिक पुरानी परंपरा नहीं है। आज भी, *निराला की साहित्य-साधना* (रामविलास शर्मा), *कलम का सिपाही* (अमृत राय) और *आवारा मसीहा* (विष्णु प्रभाकर) जैसी जीवनियों का अपना एक ऐतिहासिक महत्व है। विष्णु चंद्र शर्मा ने काज़ी नज़रुल इस्लाम, राहुल सांकृत्यायन और मुक्तिबोध की जीवनी लिखी।

हिंदी में विगत दो दशकों से हाशिये पर रहने वाला कथेतर साहित्य आज हाशिये पर नहीं है। आज बड़े कवियों-लेखकों, संस्कृतिकर्मियों के जीवन और कर्म से सुपरिचित होने का महत्व पहले की तुलना में इसलिए अधिक है कि हमारे समय में ऐसे अनुकरणीय, प्रेरक व्यक्तित्व लगातार कम हो रहे हैं। हिंदी में सद्य:प्रकाशित तीन जीवनियां (नागार्जुन, रघुवीर सहाय और सफ़दर हाश्मी की) इस दृष्टि से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। तारानंद वियोगी ने नागार्जुन की जीवनी, *युगों का सारथी* (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 2019) के पहले राजकमल चौधरी की भी जीवनी लिखी - *जीवन क्या जिया*। विष्णु नागर ने रघुवीर सहाय की जीवनी, *असहमति में उठा एक हाथ* (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019) और सुधन्वा देशपांडे ने सफ़दर हाश्मी की जीवनी, *हल्ला बोल* (वाम प्रकाशन, नयी दिल्ली, जनवरी 2020) के पहले अन्य किसी की जीवनी नहीं लिखी है। इन तीनों जीवनीकारों में सुधन्वा देशपांडे का सफ़दर (12.4.1954 - 2.1.1989) से जैसा घनिष्ठ एवं सक्रिय संबंध था, वैसा अन्य दो जीवनी लेखकों का नागार्जुन (30.6.1911 – 5.11.1998) और रघुवीर सहाय (9.12.1929 – 30.12.1990) से नहीं था। आकार की दृष्टि से नागार्जुन की जीवनी 430 पृष्ठों, रघुवीर सहाय की 398 पृष्ठों और सफ़दर की 273 पृष्ठों की है। *असहमति में उठा एक हाथ*, में जीवनी लेखक ने पुस्तक के अंत में रघुवीर सहाय के जीवन और उनकी रचनाओं की सामग्री सुरेश शर्मा की पुस्तक से साभार ग्रहण की है। नागार्जुन और सफ़दर की जीवनी में यह जीवन और रचना वर्षवार रूप में एक स्थान पर नहीं है। इन दो कवियों और एक नाटककार, रंगकर्मी, अभिनेता का अपने सृजनात्मक कर्म से जैसा लगाव था वैसा अब दुर्लभ है। तीनों की जीवन-यात्रा संघर्ष-यात्रा है। यह संघर्ष-यात्रा रघुवीर सहाय और सफ़दर की तुलना में नागर्जुन में सर्वाधिक है। कविता हो या पत्रकारिता, रंगकर्म हो या संस्कृति कर्म, अब पहले की तरह ठोस, बेलौस आवाज़ें कम हैं। नागार्जुन बिहार के थे, पर सारा देश उनके लिए अपना ही घर और परिवार था। हिंदी में ही नहीं, संभवतः किसी भी भारतीय भाषा में आधुनिक समय में उनके जैसा व्यक्तित्व अन्य किसी कवि-लेखक का नहीं है। तारानंद वियोगी ने उनके जीवन से जुड़े प्रत्येक व्यक्ति और कवि के प्रत्येक पक्ष पर जिस वस्तुपरक ढंग से जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह इस जीवनी को कहीं अधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय बनाता है। नागार्जुन और सफ़दर कम्युनिस्ट थे, मार्क्सवादी थे और रघुवीर सहाय समाजवादी। नागार्जुन आज़ाद भारत में भी जेल गये और सफ़दर की हत्या हुई। सफ़दर और रघुवीर सहाय का जीवन नगर केंद्रित रहा। रघुवीर सहाय पहले लखनऊ में रहे, फिर दिल्ली में। सफ़दर दिल्लीवासी होने के बाद भी उस सामान्य जन से अपने रंग-कर्म के ज़रिये जुड़े रहे, जो सामान्य जन आज भी बेहतर दशा में नहीं है। शब्द और कर्म की अनन्यता जैसी नागार्जुन और सफ़दर में थी, आज संभवतः किसी भी कवि-लेखक में नहीं है। इन तीनों में नागार्जुन सबसे अधिक जिये- 87 वर्ष। रघुवीर सहाय का 61 वर्ष की उम्र में निधन हुआ और सफ़दर की हत्या 35 वर्ष की उम्र में हो गयी।

आज सांप्रदायिता और हिंदू दक्षिण पंथ कहीं अधिक हिंसक और आक्रामक भूमिका में है। सफ़दर को याद करना इसलिए अधिक आवश्यक है क्योंकि उन्होंने सांप्रदायिकता तथा दक्षिण पंथ के विरुद्ध कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों, बुद्धिजीवियों को एकजुट करने में एक बड़ी सक्रिय भूमिका अदा की थी। वे 'सदा लौह' इंसान थे - ज़िंदादिल, जुनूनी, आंदोलनकारी, संस्कृतिकर्मी, रंगकर्मी, अभिनेता, नाट्य-लेखक, निदेशक, संगठनकर्ता, संघर्षशील, प्रतिबद्ध, जुझारू, आदर्शवादी, साहसी, निर्भीक, कॉमरेड, शायर, प्रतिभावान, एक्टिविस्ट, सक्रिय मार्क्सवादी, परफ़ॉर्मर। सुधन्वा देशपांडे ने उनकी जीवनी लिखने में पर्याप्त शोध किया है। सफ़दर से जुड़े सभी व्यक्तियों से बातचीत की है। नुक्कड़ नाटक और 'जनम' के पर्याय-से हैं सफ़दर। वे 1976 में माकपा के सदस्य बने। उन्होंने 'जनम' (जन नाट्य मंच) का गठन किया। वे पहले 'इप्टा' से जुड़े थे। फिर एक थियेटर ग्रुप 'मुक्ति' के साथ कुछ समय तक कार्य किया। रघुवीर सहाय ने लखनऊ विश्वविद्यालय से और सफ़दर ने दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में एम.ए. किया था। सफ़दर को छात्र-जीवन में ही 'कॉलेज के एलीट अंग्रेज़ीपरस्त माहौल से नफ़रत थी।' रघुवीर सहाय ने विश्वविद्यालयों में कभी अध्यापन नहीं

किया था। सफ़दर ने किया था। सुधन्वा देशपांडे ने उनकी जीवनी में उनके पूरे समय पर भी ध्यान दिया है। 1970 से 1989 का समय आपातकाल, तानाशाही, सिखविरोधी हिंसा, सांप्रदायिक द्वेष और उन्माद का समय था, जो आज कहीं अधिक व्यापक रूप में, भिन्न रूप में मौजूद है। उस समय भाईचारे और बंधुत्व का ह्रास आरंभ हो चुका था। *अपहरण भाईचारे का* नाटक उसी समय का है। सुधन्वा ने इस जीवनी-लेखन में आज के समय को ओझल नहीं रखा है। 'आज हिंदू दक्षिणपंथी ताक़तें फिर उभार पर हैं। तमाम धर्मनिरपेक्ष व प्रगतिशील लोग इस दैत्य से जूझने के लिए हाथ-पांव मार रहे हैं, ताकि भारत के संवैधानिक और सामाजिक ताने-बाने को ज़िंदा रख सकें।' सफ़दर की हत्या के समय कांग्रेस की सरकार थी। आज भाजपा की सरकार है। दिल्ली को सांस्कृतिक रूप से सफ़दर ने काफ़ी सक्रिय किया। रघुवीर सहाय के लिए 'दिल्ली मेरा परदेस' थी - 'दिल्ली मेरा देस नहीं है और दिल्ली किसी का भी देस नहीं हो सकती। उसकी अपनी संस्कृति नहीं है।' रघुवीर सहाय का निधन दिल्ली में हुआ। सफ़दर की हत्या भी दिल्ली में हुई - 1 जनवरी 1989 को झंडापुर में। *हल्ला बोल* नाटक के मंचन के समय। यह हमला कांग्रेसी गुंडों द्वारा किया गया था। राजनीति में गुंडई सत्तर के दशक से आरंभ हो चुकी थी। नुक्कड़ नाटक 'सामाजिक बदलाव का थियेटर' माना गया है। थियेटर, कविता, साहित्य समाज को नहीं बदलता, पर वे व्यक्तियों के निर्माण, उनकी चेतना के विकास और उनके बदलाव में एक बड़ा कार्य करते हैं। और फिर ये बदले हुए लोग समाज को बदलते हैं। कविता, नाटक, थियेटर, साहित्य का यह प्रभाव कभी समाप्त नहीं होता। आज का भारत कल के भारत की तुलना में कहीं अधिक बदहाल है, जिसे बदलने की दिशा में ये पुस्तकें हमें प्रेरित-सक्रिय भी करती हैं। बदलने के लिए समझना ज़रूरी है और समझने के लिए पढ़ना। सफ़दर की कविता, 'किताबें' केवल बच्चों के लिए नहीं है। 'किताबें करती हैं बातें/बीते ज़माने की/दुनिया की इंसानों की/आज की, कल की/एक-एक पल की!ख़ुशियों की, ग़मों की! फूलों की, बमों की/जीत की, हार की...'।

सफ़दर को सुधन्वा ने 'भविष्य का निष्कासित, थियेटर का स्पार्टाकस' कहा है। सफ़दर के जीवन की उनके रंग-कर्म की कोई भी घटना जीवनी-लेखक की निगाह से नहीं छूटी है। सफ़दर-माला का संग-साथ, सफ़दर की पाकिस्तान-यात्रा आदि। सुधन्वा देशपांडे के अलावा शायद सफ़दर की ऐसी मुकम्मल जीवनी और कोई नहीं लिख पाता। इस जीवनी से हम सफ़दर के साथ-साथ उनके समय से पूरी तरह परिचित होते हैं। सफ़दर का परिवार वामपंथी-मार्क्सवादी परिवार था। सुधन्वा देशपांडे का परिवार भी समर्पित मार्क्सवादी परिवार था। *हल्ला बोल*, 'कॉमरेड आई और प्रोफ़ेसर बाबा' को समर्पित है। पुस्तक का अनुवाद योगेंद्र दत्त ने किया है। तीन भागों में विभाजित इस जीवनी का पहला भाग 1 जनवरी 1989 से आरंभ होता है, जब सफ़दर की हत्या हुई थी। दूसरे भाग में सफ़दर के जन्म, उनके परिवार, उनकी शिक्षा, उनके शुरुआती साल, *जनम* का जन्म, इमरजेंसी से लेकर 1988 की पाकिस्तान-यात्रा आदि है। तीसरे भाग में कई नुक्कड़ नाटकों की चर्चा, ऐक्टिंग, दिल्ली के मज़दूर वर्ग और दिसंबर 1988 का वह 'आख़िरी महीना' है जब *हल्ला बोल* के शो आरंभ हुए थे। 1978 से 1988 का दशक 'जनम' का गौरवशाली दशक था। 'इप्टा' के बाद का यह 'जनकेंद्रित, लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, जन सांस्कृतिक आंदोलन' था। इस जीवनी में पचास के दशक की महंगाई, मुद्रास्फीति, दिल्ली विश्वविद्यालय का छात्र-संगठन, कैंपस में माकपा का प्रवेश, वामपंथी विद्यार्थी आंदोलन, आपातकाल, मज़दूर आंदोलन, हड़ताल सब पर जीवनी लेखक का ध्यान है, उस पूरे समय पर, जिसमें व्यक्ति निर्मित-विकसित होता है।

जीवनी विशुद्ध साहित्य-रूप नहीं है। इसमें कई साहित्य-रूप घुले-मिले होते हैं। *हल्ला बोल* एक प्रतिबद्ध लेखक, संस्कृतिकर्मी, एक्टिविस्ट द्वारा लिखित एक प्रतिबद्ध व्यक्ति, रंगकर्मी, संस्कृति कर्मी, सक्रियतावादी की जीवनी है। सफ़दर और सुधन्वा देशपांडे दोनों प्रतिबद्ध मार्क्सवादी हैं- एक दल विशेष माकपा से जुड़े। इस जीवनी में *जनम* का संक्षिप्त इतिहास है, कई नयी, प्रामाणिक जानकारियां हैं। सफ़दर से जुड़ी प्रकाशित-अप्रकाशित सारी सामग्रियों के गहन अध्ययन के बाद जीवनीकार ने सफ़दर के विचार-पक्ष पर विचार किया है। सफ़दर ने केवल नुक्कड़ नाटक नहीं लिखे और न केवल उनका मंचन, निर्देशन और उनमें अभिनय ही किया था, उन्होंने नुक्कड़ नाटक के स्वरूप, विधा, सियासत आदि पर भी विचार किया। नुक्कड़ नाटक की भाषा और उसके व्याकरण पर भी चिंतन किया। सफ़दर के जीवन-व्यक्तित्व के सभी पक्षों- लेखक, रंगकर्मी, कलाकार, संस्कृतिकर्मी पर लेखक का ध्यान रहा है। चर्चा-परिचर्चा, बहस, लेखन, सेमिनार आदि पर। नुक्कड़ नाटक की रचना से उसकी प्रस्तुति तक। सफ़दर की शोहरत के पीछे उनका सृजनात्मक कर्म था। वे बड़े 'आर्गनाइज़र' थे। निरंतर गतिवान। 'उसके पैरों में स्प्रिंग लगी हुई थी।' जीवनी-लेखन में स्रोतों सामग्रियों की बड़ी भूमिका है। सुधन्वा देशपांडे ने दो पृष्ठों में पुस्तक के अंत में 'स्रोतों के बारे में' जानकारियां दी हैं। निजी, पारिवारकि जीवन से कहीं अधिक महत्व सफ़दर के लिए सांस्कृतिक जीवन था। एक बड़े उद्देश्य के लिए समर्पित जीवन। सफ़दर की मृत्यु के मात्र अड़तालीस घंटे के बाद झंडापुर में पहले के स्थान पर ही *हल्ला बोल* का मंचन एक उदाहरण है। माला हाशमी ने मत्यु के अगले दिन ही रिहर्सल किया। पुस्तक के अंत में *हल्ला बोल* नाटक है। आठ पृष्ठों में चित्र हैं। यह जीवनी सफ़दर और उनके समय को जानने-समझने के साथ राज्यसत्ता और व्यवस्था को समझने के लिए भी प्रेरित करती है। सफ़दर को श्रद्धांजलि देने कौन नहीं आया था। 'नहीं आये तो सिर्फ़ कांग्रेस और भाजपा के नेता नहीं आये।'

अब नागार्जुन पर कुछ भी लिखने के लिए, उनके जीवन, व्यक्तित्व और कवि-कर्म को पूर्णतः समझने के लिए तारानंद वियोगी द्वारा लिखित उनकी जीवनी, *युगों का यात्री* का अध्ययन आवश्यक है। जीवनी लिखने से पहले तारानंद वियोगी तरौनी में बाबा की समाधि पर गये थे। उन्होंने पूछा कि 'उनकी जीवनी को कैसा होना चाहिए'? प्रत्येक जीवनी-लेखक की अपनी एक समझ-दृष्टि होती है, जो उसके चरित-नायक से भी थोड़ी बहुत मेल खाती है। एक 'ज़िद्दी कुम्हार की तरह' तारानंद वियोगी ने नागार्जुन का जीवनी-लेखन आरंभ किया। 'बाबा एक ज़रूरी आदमी थे। हमें उनसे ज़्यादा से ज़्यादा परिचित होना चाहिए।' *युगों का यात्री* में नागार्जुन से जुड़ा कुछ भी नहीं छूटा है। स्रोत-सामग्री का उल्लेख नहीं है, पर नागार्जुन से जुड़े व्यक्ति किसी-न-किसी रूप में यहां उपस्थित हैं। अनेक नयी जानकारियां इस जनकवि के संबंध में इस जीवनी से मिलती हैं। मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने उनके प्रधान संपादकत्व में, *सीमांत* नाम से पत्रिका निकाली। नागार्जुन ने आरंभ में, *उदयन* (हिंदी में) और मैथिली में *किरण* पत्रिका निकाली

थी। 1955 के आसपास रामविलास शर्मा ने उन्हें 'बाबा' और 'नागा बाबा' का संबोधन दिया, बड़े बेटे शोभाकांत को स्वयं सिगरेट जलाना सिखाया, 1946 में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थायी सदस्यता ली और 1962 में चीन के ख़िलाफ़ कविता लिखकर पार्टी की सदस्यता छोड़ दी। दादा के पास साठ बीघा ज़मीन थी, पिता के पास बीस बीघा 'पर विरासत में मिली मात्र तीन कट्ठे।' मां 'बड़े घर की बेटी' थीं- 'बारह सौ बीघा ज़मीन, चालीस बैल, बीस हल, अठारह भैंसें, सड़सठ प्राणियों का संयुक्त परिवार' था। छात्र-जीवन में काशी से प्रयाग की पैदल यात्रा की, पहला प्रेम गनौली की एक लड़की से हुआ, मिथिला के जातीय पर्व 'विद्यापति पर्व' के शुभारंभ में उनकी बड़ी भूमिका थी, तरौनी के पंडित अनिरुद्ध मिश्र ने कविता बनाना सिखाया, समस्यापूर्ति से काव्याभ्यास किया। दो गुरु प्रमुख रहे - काशी के गवर्नमेंट कॉलेज के संस्कृत अध्यापक मधुसूदन शास्त्री और बनगांव के निवासी ज्योतिषाचार्य बलदेव मिश्र। बिहार के पहले मुख्यमंत्री श्री कृष्ण सिंह और उनके मंत्रियों को लेकर *श्री कृष्ण चालीसा* लिखा और बेटे शोभाकांत को कंधे पर बिठाकर झाल बजा-बजा कर *श्री कृष्ण चालीसा* गाया, जेलख़ाना को उन्होंने 'कृष्ण मंदिर' कहा, प्रगतिशील लेखक संघ को 'बुढ़ापे का तरल वीर्य, शुक्र मोचनी संस्था' बताया, कम्युनिस्ट नेताओं को बाद में 'जनता छाप महाप्रभु' कहा, '36 प्रकार के पशु-पक्षी, जंतु-प्राणी खाये, मास्को में 'लेनिन स्तोत्रम' कविता लिखी और यह बताया कि '1956 के बाद कम्युनिस्टों की क्रांतिकारी राजनीति किताब में रह गयी, लोकतांत्रिक रणनीति के व्यवहार में उन्होंने शासक दल का साथ देने की रणनीति अब तक चला रखी है।'

विद्यार्थी वैद्यनाथ मिश्र की पहली कविता 1929 में महामहोपाध्याय मुरलीधर झा के निधन पर प्रकाशित हुई थी। इसी वर्ष कांग्रेस ने 19 दिसंबर को लाहौर में 'पूर्ण स्वराज' का प्रस्ताव पारित किया था। सहजानंद सरस्वती नागार्जुन के 'राजनीतिक गुरु' थे। उन्होंने नागार्जुन को राहुल की तरह मुरदों की खोज में न लग कर 'ज़िंदा मुरदों की ख़बर लेने को कहा।' *युगों का यात्री* नागार्जुन की आधिकारिक, प्रामाणिक जीवनी है। लेखक ने इसमें नागार्जुन से जुड़ी प्रत्येक घटना का वर्णन किया है। 1929 की लाहौर कांग्रेस से 1947 तक का भारत अंग्रेज़ों के शासन में था। स्वतंत्र भारत की सत्ता-राजनीति पर नागार्जुन ने सर्वाधिक लिखा। नागार्जुन के जीवन के, उनके सृजन के एक-एक पक्ष का सजीव, जीवंत चित्रण पुस्तक में है। एक जनकवि की निर्मिति' के जितने कारक तत्व होते हैं, उनमें से किसी को ओझल नहीं किया गया है। नागार्जुन जितना अनुभव-समृद्ध जीवन हिंदी में ही नहीं, भारतीय भाषाओं में भी शायद ही किसी कवि का हो। वे प्रसाद, प्रेमचंद से बनारस में मिलते थे, नागार्जुन का रचना-समय लगभग सत्तर वर्ष का है। तारानंद वियोगी ने उनके कवि-कर्म, रचना-कर्म पर क्रमवार रूप से विचार किया है। नागार्जुन को किसी भी सांचे में फ़िट नहीं किया जा सकता। 'जहां से वे आगे बढ़ गये, फिर उसी मक़सद से उस जगह दुबारा नहीं लौटे।' समय-समय पर अपना अखाड़ा बदलने को उन्होंने 'काल धर्म' कहा है। उनकी निर्मिति में, जिन व्यक्तियों की भूमिका थी, 'उनमें स्वामी केशवानंद प्रथम स्थानीय थे।' कवि-रूप में उन्होंने किसी कवि से प्रेरणा ग्रहण नहीं की। जीवन और समय ने उन्हें सिखाया। उनका व्यक्तित्व 'जनजीवन से एकाकार' था। रहन-सहन की शैली पर तिब्बती संस्कृति का प्रभाव था। वे धार्मिक कट्टरतावाद और जनता की धार्मिक भावना में फ़र्क़ करते थे। जीवनी में1938 के 'समर स्कूल ऑफ़ पालिटिक्स' की विस्तारपूर्वक चर्चा है। तीस दिन तक बौद्ध भिक्षु के रूप में नागार्जुन इसमें शामिल हुए थे। उनके जीवनांतरण में तारानंद वियोगी ने ठीक ही राहुल की अनूदित किताब, *मज्झिम निकाय* की बड़ी भूमिका मानी है। बौद्ध साहित्य के गहन अध्ययन की इच्छा से वे अबोहर से काशी, फिर मद्रास, रामेश्वरम् होते हुए लंका पहुंचे थे। यहीं उन्होंने 'उनको प्रणाम' कविता लिखी, जो *मिथिला मोद* में छपी। 'रातों रात एक समर्थ कवि के रूप में मान्यता मिली।' लंका में कल्याणपुरी मठ में ठौर, वहां से विघालकार परिवेण जावा, जहां रहने के लिए काशी प्रसाद जायसवाल और राहुल सांकृत्यायन में से किसी की संस्तुति आवश्यक थी। संस्कृत के छंदों में उन्होंने काशी प्रसाद जायसवाल को पत्र भेजा और प्रबंधन को यह टेलीग्राम मिला। 'एडमिट दिस संस्कृत पंडित फ्रॉम मिथिला'। परिवेण के भिक्षुओं को संस्कृत पढ़ायी। *त्रिपिटकों* का अध्ययन किया। बौद्ध भिक्षु बने। अपना नाम 'नागार्जुन' रखा। नायकवाद धम्मानंद से दीक्षा ली।

युगों का यात्री नागार्जुन की एक स्थायी, प्रामाणिक एवं पूर्ण जीवनी है। चार अध्यायों में विभाजित इस जीवनी में नागार्जुन की घुमक्कड़ी, उनका विस्तृत-व्यापक परिवार, आत्मीय जनों के 'किचेन' में निस्संकोच प्रवेश, मनपसंद भोजन की फ़रमाइश, बच्चों से अमित स्नेह, अनेक कविताओं-काव्य-संग्रहों का प्रकाशनादि सब कुछ है। नागार्जुन के जीवन से संबंधित प्रत्येक घटना-प्रसंग यहां दर्ज है। पत्नी अपराजिता के प्रति गहन प्रेम-भाव से जुड़े कई प्रसंग भी हैं। इस कवि ने मैथिली कविताओं की लघु पुस्तिका छपवा कर रेल गाड़ी में गा-गाकर बेची थी, चनाजोर गरम वाले की तरह। जीवन में आयी तमाम बाधाओं और परिवर्तनों को नागार्जुन ने झेला, सहा। कई प्रसिद्ध कविताओं के रचना-समय पर भी विचार इस पुस्तक में है। नागार्जुन ने 'शब्द' को 'बड़ा तेजस्वी' मानकर इसका सही उपयोग करने की बात कही है। हिंदी में नागार्जुन के प्रशंसक कवि कम नहीं है, पर उनके काव्य-मार्ग, संघर्ष मार्ग पर चलने वाले कवि बहुत-बहुत कम हैं। नागार्जुन का खरापन किसी कवि में नहीं है।

हिंदी के समकालीन कवियों पर रघुवीर सहाय का प्रभाव अधिक है। विष्णु नागर चर्चित कवि हैं। रघुवीर सहाय के साथ उनका लगभग दो दशकों का संबंध भी रहा है। *असहमति में उठा एक हाथ* उनके द्वारा लिखी गयी रघुवीर सहाय की जीवनी है। पुस्तक में 'रघुवीर सहाय के साथ दो दशक' एक अध्याय भी है। इस जीवनी में वस्तुपरकता पर्याप्त मात्रा में नहीं है। जीवनी-लेखक को स्वयं यह लगा था 'कि किताब रघुवीर जी के बारे में कुछ अधिक प्रशंसात्मक हो गयी है।' वे इसका दोष 'कुछ हद तक 'रघुवीर जी के व्यक्तित्व में' देखते हैं, 'कुछ उनके बारे में अच्छी-अच्छी बातें करने वाले पत्रकारों में और अंत में सबसे अधिक' अपने में। यह एक ईमानदार स्वीकारोक्ति है। रघुवीर सहाय में 'अतिरिक्त सतर्कता' थी। यह जीवनी 49 छोटे-छोटे अध्यायों में लिखी गयी है। नागार्जुन और रघुवीर सहाय दोनों हिंदी के प्रमुख कवि हैं। रघुवीर सहाय के जीवन की अस्थिरता नागार्जुन के जीवन की अस्थिरता के सामने छोटी है। एक कवि-पत्रकार के रूप में ही नहीं, कहानीकार के रूप में भी विष्णु नागर ने उन पर अधिक ध्यान दिया है। विष्णु नागर स्वीकारते हैं, 'उनका आत्यंतिक-आत्मीय परिचय देने वाली सामग्री कम उपलब्ध है।'

रघुवीर सहाय ने पंद्रह वर्ष की आयु में लिखना-छपना आरंभ किया। 19 वर्ष की अवस्था में 1948 में वे *प्रतीक* में छपे। आरंभ में मार्क्सवादी विचारधारा से लगाव था। बाद में समाजवादी विचारधारा से जुड़े। गांधी की हत्या पर उन्होंने 'महाप्रयाण' कविता लिखी। नागार्जुन की गांधी पर लिखित कविताओं और उनकी इस कविता में अंतर है। विष्णु नागर को उनके जीवनी-लेखन में *रघुवीर सहाय रचनावली* से प्रचुर सामग्री मिली है। कुंवरनारायण, कृष्णनारायण कक्कड़ और मनोहर श्याम जोशी सहाय जी के घनिष्ठ मित्र थे, ये जीवित रहते तो कुछ और निजी जानकारियां उपलब्ध हो सकती थीं। डेढ़ वर्ष की उम्र में रघुवीर सहाय की मां का निधन हुआ था। लखनऊ उनका वतन था। दिल्ली परदेस थी। उनके मित्र और साथी गिने-चुने थे। आकाशवाणी से उनका संबंध पुराना था। 1947 से कविता लिखना और 1950 से उन्हें रेडियो पर पढ़ना आरंभ किया। 1946 से 1950 तक लखनऊ रेडियो स्टेशन से उनकी रचनाएं प्रसारित हुईं। आकाशवाणी में वे संवाददाता रहे। संसद कवर किया। रघुवीर सहाय के जीवन के जिन कुछ पक्षों से हम अभी तक अपरिचित एवं अल्प परिचित थे, वे सब इस जीवनी में मौजूद हैं। दूरदर्शन के लिए गांधी, टैगोर और राजेंद्र प्रसाद पर उन्होंने कार्यक्रम बनाये। वे 'एक सशक्त ब्रॉडकास्टर' भी रहे। आकाशवाणी के उनके वर्ष 'सर्जनात्मक' नहीं थे। *प्रतीक* से वे पचास के दशक के आरंभ में जुड़े, सहायक संपादक बने। बीस वर्ष की अवस्था में ही उनकी कविताएं अज्ञेय ने *प्रतीक* के लिए ली थीं। आकाशवाणी में रुक-रुक कर कई वर्ष उन्होंने कार्य किया। उनकी 'हमारी हिंदी' कविता *युगचेतना* में प्रकाशित हुई थी, जिस पर काफ़ी हंगामा हुआ था। लखनऊ से उनका लेखन आरंभ हुआ था। 'लखनऊ ने अगर उनके लेखन की बुनियाद रखी, तो उसकी इमारत दिल्ली में बनी।' 1951 से 1990 के अंत तक - चालीस वर्ष वे दिल्ली में रहे। आरंभ में उन्होंने 'फ्रीलांसिंग' की थी। रघुवीर सहाय की प्रसिद्धि कवि के बाद *दिनमान* के संपादक रूप में है। 1968 में वे *दिनमान* के स्थानापन्न संपादक बने, बाद में कार्यकारी संपादक और 1970 में संपादक। 1970 से 1983 तक वे *दिनमान* के संपादक थे। कवि पत्रकार, संपादक के रूप में उनका बड़ा योगदान है। वे वात्स्यायन को नहीं, लोहिया और ओम प्रकाश दीपक को अपना शिक्षक मानते थे। सफ़दर जिस तरह 'जनम' के पर्याय-से हैं, उसी तरह रघुवीर सहाय *दिनमान* के। उनकी विचार-यात्रा मार्क्सवाद से लोहियावाद की है। नागार्जुन ने वामपंथी दलों की सीमाओं पर विचार किया, रघुवीर सहाय ने लोहिया की सीमाओं पर ध्यान नहीं दिया। 'रघुवीर सहाय की समाजवादी निष्ठा और व्यक्तिगत प्रतिष्ठा आपातकाल के बाद भी लगभग अक्षुण्ण रही। लेखक-कवि के रूप में उनकी विश्वसनीयता पर कोई आंच नहीं आयी।' वे बड़े कवि थे, पर उनमें नागार्जुन और सफ़दर जैसा संघर्ष नहीं था। मंगलेश डबराल ने ठीक कहा है, 'वे तीसरी दुनिया के और बड़े कवियों की तरह योद्धावृत्ति के नहीं थे। वे उस दौर (आपातकाल) में जिलाधीशों से डर गये थे।'

नागार्जुन, रघुवीर सहाय और सफ़दर की पारिवारिक पृष्ठभूमि भिन्न है। नागार्जुन ने स्वयं अपने को निर्मित किया और अंत-अंत तक उस भारत की निर्मिति के लिए अपनी रचनाओं के जरिये निरंतर संघर्ष किया, जिसका स्वप्न प्रेमचंद ने देखा था। वे 'आबद्ध, प्रतिबद्ध और संबद्ध थे। सफ़दर में यह गुण था। रघुवीर सहाय में ऐसी आबद्धता, प्रतिबद्धता, संबद्धता नहीं है। नागार्जुन के लिए 'मातृभूमि' सर्वोपरि थी। जीवन के अंतिम दिनों में वे दिल्ली न रहकर दरभंगा चले गये। रघुवीर सहाय और सफ़दर नगरवासी थे। मातृभूमि के महत्व से अल्प परिचित। आज़ाद भारत में 1947 से जीवन के अंत तक नागार्जुन ने भारतीय राज्य-सत्ता और व्यवस्था का सदैव विरोध किया। कांग्रेस और नेहरू-इंदिरा का ऐसा विरोध किसी भारतीय कवि ने नहीं किया है। सफ़दर अंत तक पार्टी विशेष से जुड़े थे। नागार्जुन कुछ समय तक ही पार्टी से जुड़े रहे और रघुवीर सहाय किसी पार्टी विशेष से नहीं जुड़े थे। नागार्जुन अंत-अंत तक मार्क्सवादी रहे। नागार्जुन बिहार के थे, रघुवीर सहाय और सफ़दर दोनों दिल्लीवासी थे।

हिंदी प्रदेश में आज सांप्रदायिकता सर्वाधिक है। नागार्जुन ने गांधी की हत्या के तुरंत बाद फ़ासीवादी ताक़तों की पहचान कर ली थी। नागार्जुन, रघुवीर सहाय और सफ़दर की चिंता में भारत का सामान्य जन था। सफ़दर के यहां श्रमिक वर्ग में मज़दूर अधिक है, नागार्जुन के यहां किसान-मज़दूर दोनों। नागार्जुन आंदोलनों के साथ रहे। वे आंदोलनधर्मी कवि हैं। उनमें समय और समाज की पहचान सर्वाधिक है। जनपक्षधरता नागार्जुन एवं सफ़दर में रघुवीर सहाय की तुलना में अधिक है। रघुवीर सहाय के लिए लोहिया और जयप्रकाश जिस प्रकार प्रमुख थे उसी प्रकार नागार्जुन और सफ़दर के यहां कोई राजनेता प्रमुख नहीं था। वहां विचार प्रमुख था। आज के भारत में न तो भारतीय स्तर पर कोई प्रमुख नेता है और जहां तक मार्क्सवादी विचारधारा का प्रश्न है, नागार्जुन ने कहा है - 'जब तक फटी बनियान पहन कर रिक्शावाला चलेगा, तब तक साम्यवाद रहेगा।' नागार्जुन के भीतर गांव रचा-बसा था। सादतपुर को उन्होंने अपना 'गांव' बना डाला।

नागार्जुन और रघुवीर सहाय की जीवनी 'रज़ा फाउंडेशन की रज़ा फ़ेलोशिप के अंतर्गत लिखी गयी' है। सफ़दर की जीवनी सुधन्वा देशपांडे ने आज के समय में अधिक ज़रूरी समझ कर लिखी है। आज हल्ला बोलने के साथ कहीं अधिक आगे बढ़कर प्रतिरोध सहित सृजन और संस्कृतिकर्म की ज़रूरत है। जीवनियां हमारे समय में जगमगाती रोशनियों की तरह हैं।

मो. 9431103960

पुस्तक संदर्भ

1. *युगों का सारथी* : तारानंद वियोगी, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली 2019

2. *हल्ला बोल* : सुधन्वा देशपांडे, वाम प्रकाशन, नयी दिल्ली, जनवरी 2020

3. *असहमति में उठा एक हाथ* : विष्णु नागर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019

सिनेमा में साहित्य की ख़ुशबू ...

नलिन विकास

भारतीय कला, साहित्य और राजनीति की तरह हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा में भी आज़ादी एक महत्वपूर्ण पड़ाव है। आरंभ से ही हिंदी सिनेमा और गीत-संगीत का चोली-दामन का साथ रहा है। ऐसे में हिंदी फ़िल्मी गीतों के सफ़र का जायज़ा लेने के लिए उन गीतकारों का अध्ययन ज़रूरी हो जाता है जिन्होंने आज़ादी के पहले गीत लेखन की शुरुआत की और आज़ादी के बाद भी वर्षों तक अपनी क़लम से फ़िल्म जगत को एक से बढ़कर एक ख़ूबसूरत गीत भेंट करते रहे।

कवि-गीतकार-ग़ज़लकार कांतिमोहन सोज़ की पुस्तक, *आज़ादी से पहले फ़िल्मी गीत और गीतकार* हिंदी सिनेमा के आरंभिक दौर के ऐसे ही महत्वपूर्ण गीतकारों के योगदान को रेखांकित करती है। लगभग साढ़े तीन सौ पृष्ठों की इस पुस्तक में कुल नौ अध्याय हैं । लेखक ने 1931 से 1943 तक के कालखंड को 'फ़िल्मी गीत का आदिकाल' मानते हुए इसी नाम से पहले अध्याय का शीर्षक रखा है। इस अध्याय में शामिल चार प्रमुख गीतकारों, पंडित नारायणप्रसाद बेताब, पंडित सुदर्शन, आग़ा हश्र कश्मीरी और पंडित नरोत्तम व्यास को लेखक ने हिंदी फ़िल्मों के आदिकाल के 'वृहत चतुष्ठ' की संज्ञा दी है क्योंकि हिंदी फ़िल्मों में गीत का महत्व निर्धारित करने और उसकी भाषा के निर्माण में इनकी निर्णायक भूमिका रही। फ़िल्म निर्माण में गीतकार की अहमियत को इन्होंने महसूस कराया जिसके चलते आने वाले गीतकारों का काम सम्मानजनक और सुगम हो गया।

पुस्तक के अगले हिस्से में केदार शर्मा, आरज़ू लखनवी, फ़ैयाज़ हाशमी, दीनानाथ मधोक, कमर जलालाबादी, कवि प्रदीप और नरेंद्र शर्मा पर अलग से अध्याय दिये गये हैं । अंतिम अध्याय में पंडित इंद्र, पंडित भूषण, ज़िया सरहदी, पी एल संतोषी, सफ़दर आह सीतापुरी, बहज़ाद लखनवी, हरिकृष्ण प्रेमी, अमृतलाल नागर, राजेंद्र कृष्ण, भरत व्यास सहित अन्य गीतकारों पर संक्षिप्त और सारगर्भित टिप्पणियां की गयी हैं।

यों तो लेखक ने उस दौर के सभी प्रमुख गीतकारों की कमोबेश विस्तृत विवेचना की है, पर पुस्तक के केंद्र में पंडित नरेंद्र शर्मा हैं। दरअसल, एक गीतकार के रूप में नरेंद्र शर्मा के विकास का अध्ययन और उनके योगदान का वस्तुगत मूल्यांकन करने के लिए वे आदिकाल के सभी प्रमुख फ़िल्मी गीतकारों का भी अध्ययन ज़रूरी समझते हैं। अकारण नहीं है कि पुस्तक में सबसे अधिक 81 पृष्ठ की सामग्री नरेंद्र शर्मा पर दी गयी है। नरेंद्र शर्मा को प्रमुखता देने का कारण बताते हुए लेखक ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है, 'पूछा जा सकता है कि नरेंद्र शर्मा ही क्यों? क्या वे फ़िल्मों के सर्वश्रेष्ठ गीतकार हैं ? क्या उन्होंने कोई ऐसा कारनामा अंजाम दिया है जो उनसे पहले या उनके बाद किसी और के लिए नामुमकिन रहा हो ?'

हालांकि सर्वश्रेष्ठ फ़िल्मी गीतकार के रूप में वे नरेंद्र शर्मा के स्थान पर केदार शर्मा को तरजीह देते हैं, पर नरेंद्र शर्मा के भाषिक योगदान को बेहद अहम मानते हैं। वे लिखते हैं : 'नरेंद्र शर्मा का कारनामा मैं यह मानता हूं कि उन्होंने अपने गीतों से यह साबित कर दिखाया कि उर्दू की तरह हिंदी में भी, बोलचाल की हिंदी के साथ-साथ शुद्ध साहित्यिक हिंदी में भी, सरस और भावपूर्ण गीतों की रचना संभव है और ये गीत अगर अच्छे होंगे तो लोकप्रियता में भी किसी से पीछे नहीं रहेंगे। हिंदी फ़िल्मों में उनसे पहले भी गीत थे। पंडित सुदर्शन और नरोत्तम व्यास हिंदी में ही लिखते थे, लेकिन उनकी भाषा को शुद्ध और साहित्यिक हिंदी नहीं कहा जा सकता।... नरेंद्र शर्मा पहले प्रतिष्ठित साहित्यिक कवि थे जिन्होंने फ़िल्मी गीत को अपनाया और अपनाये रहे। उन्होंने उसे साहित्यिक गरिमा और दीर्घजीविता प्रदान की। उर्दू की शानदार विरासत उसके पास पहले से ही थी, नरेंद्र शर्मा ने उसे हिंदी की चमकदार विरासत से भी मालामाल कर दिया।'

नरेंद्र शर्मा को केंद्र में रखने के पीछे लेखक ने एक और कारण गिनाया है। पुस्तक की भूमिका में वे लिखते हैं :'नरेंद्र शर्मा इसलिए भी कि वो एक मात्र ऐसे गीतकार थे जिन्हें मैं जानता था और किसी क़दर नज़दीक से जानता था। मेरे मन पर उनके व्यक्तित्व की प्रिय छाप अंकित है और उनका नाम आते ही अनेक मधुर स्मृतियां ताज़ा हो जाती हैं। वो मेरे इलाक़े के थे इसलिए मैं उनसे अपेक्षाकृत अधिक निकटता अनुभव करता हूं...'

नरेंद्र शर्मा से इस निकटता के बावजूद यह कहना पड़ेगा कि उनके विश्लेषण और मूल्यांकन में लेखक ने काफ़ी हद तक वस्तुनिष्ठता का निर्वाह किया है। इस पुस्तक के निम्नलिखित उद्धरणों में इसकी बानगी देखी जा सकती है :

1. '...अगर जवाब देने की मजबूरी हो तो सर्वश्रेष्ठ फ़िल्मी गीतकार के स्थान पर मेरे मुंह से नरेंद्र शर्मा का नहीं, केदार शर्मा का नाम निकलेगा।'

2. 'साहिर की अदबी और फ़िल्मी शायरी में कोई भेद नहीं है। दोनों ही रूपों में शायरी उनकी प्रगतिशील, धर्मनिरपेक्ष और जनवादी विचारधारा की वाहक है। फ़िल्म और अदब को एक दूसरे के नज़दीक लाने का जैसा भागीरथ प्रयत्न साहिर ने किया, वैसा नरेंद्र शर्मा सहित किसी भी गीतकार ने नहीं किया।'

3. 'नरेंद्र शर्मा प्रगतिवादी और कम्युनिस्टों के घनिष्ठ मित्र होते हुए भी गहन आध्यात्मिकता और धार्मिकता वाले व्यक्ति माने जाते थे, हालांकि धार्मिकता को व्यक्तिगत दायरे में ही रखने के कारण वो आधुनिकों या प्रगतिशीलों के लिए समस्या उत्पन्न नहीं करते थे। फिर, फ़िल्मी लेखन से

उनकी रोज़ी-रोटी भी नहीं चलती थी, इसलिए उनकी मजबूरियां भी कम थीं। '

लेखक के अनुसार नरेंद्र शर्मा को अपनी भाषा अचानक या अनायास नहीं मिल गयी थी। उसे पाने के लिए उन्हें और उनसे पहले की पूरी पीढ़ी को संघर्ष करना पड़ा। नरेंद्र शर्मा को विरसे में जो भाषा मिली उसके निर्माण में आरज़ू लखनवी, केदार शर्मा, फ़ैयाज़ हाशमी, दीनानाथ मधोक, प्रदीप, ज़िया सरहदी, सफ़दर आह, कमर जलालाबादी, पंडित इंद्र, पंडित भूषण जैसे गीतकारों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

हिंदी फ़िल्मों के आदिकाल के 'वृहत चतुष्ठ' के पश्चात केदार शर्मा, आरज़ू लखनवी और दीनानाथ मधोक के रूप में श्रेष्ठ गीतकारों की एक 'बृहत्रयी' की चर्चा करते हुए कांतिमोहन सोज़ लिखते हैं कि 'जिसे हम हिंदी फ़िल्म की ज़बान कहते हैं वो मुख्यतः इस बृहत्रयी के योगदान के कारण ही अस्तित्व में आयी, पुस्तक में आरज़ू लखनवी को एक ऐसे गीतकार और उर्दू के अदीब के रूप में याद किया गया है जिसने उर्दू पर अरबी-फ़ारसी लादे जाने का एलानिया विरोध किया और उर्दू के अदीबों से हिंदी और उसकी बोलियों से निकटता क़ायम करने और आदान-प्रदान करने की वकालत की। केदार शर्मा की बहुआयामी प्रतिभा के विश्लेषण के क्रम में लेखक ने उनकी गीत भाषा के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए लिखा है, 'बोलचाल की भाषा और सादगी पर इसरार होने के नाते उनके गीतों में उक्ति विचित्रता या वचन-विदग्धता शायद कम मिले लेकिन दिल की भावनाओं को व्यक्त करना और सुननेवाले तक संवेदित करना ही अगर गीत का अभिप्रेत हो तो शर्मा जी की भाषा-शैली को आदर्श कहा जायेगा। '

फ़ैयाज़ हाशमी का नाम अपने युग के सबसे प्रतिभाशाली गीतकारों में शुमार किया जाता था। अपने फ़िल्मी गीतों के साथ-साथ अपने ग़ैरफ़िल्मी गीतों के लिए भी वे मशहूर थे। उस ज़माने का बेहद चर्चित गीत, 'ये रात ये मौसम ये हंसना हंसाना मुझे भूल जाना इन्हें ना भुलाना' फ़ैयाज़ हाशमी ने ही लिखा है । लेखक के अनुसार यह फ़ैयाज़ हाशमी या पंकज मल्लिक का नहीं, बल्कि हिंदी का सर्वश्रेष्ठ गीत कहलाने का हक़दार है और हिंदी के पुराने गीतों में यह सबसे आधुनिक है। पुस्तक से यह भी जानकारी मिलती है कि फ़रीदा ख़ानम की आवाज़ में गायी ख़ूबसूरत ग़ज़ल, 'आज जाने की ज़िद न करो' ही नहीं मेहदी हसन की आवाज़ में मक़बूल हुई ग़ज़ल, 'हमें कोई ग़म नहीं था ग़मे-आशिक़ी से पहले' हाशमी साहब की जादुई कलम से निकली है।

पुस्तक में उस दौर के अन्य प्रमुख गीतकार दीनानाथ मधोक के योगदान पर विस्तार से चर्चा की गयी है। मधोक की प्रतिभा बहुमुखी थी। गीतकार के साथ-साथ वे कहानी, पटकथा, संवाद और निर्देशन में सिद्धहस्त थे तथा ज़रूरत पड़ने पर अभिनय भी कर लिया करते थे। साहित्यिक संस्कार की दृष्टि से कमज़ोर होने के बावजूद लोक संगीत से उनका गहरा जुड़ाव था। लेखक ने उनके प्रकृति चित्रण पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि, 'उनके गीत बादल, घटा, बदरिया, पपीहा, कोयल, चकोर या चकोरा, चातक, फूल, चांद, तारे, नदी, लहर, तितली, उपवन, रिमझिम, रौशनी आदि से पटे पड़े हैं और फिर भी वो इनके जोड़-घटाने से एक मधुर और लोकप्रिय गीत निकाल लाते थे। मधोक से पहले हिंदी फ़िल्मों के गीतों में ऐसा प्रकृति-चित्रण विरल है। उनके यहां प्रकृति मानवीय भावनाओं को उभारने के लिए ही इस्तेमाल नहीं की जाती बल्कि उसकी स्वतंत्र सत्ता भी है।'

एक संगीत निर्देशक के रूप में नौशाद को प्रतिष्ठित करने में मधोक द्वारा 1940 में निर्मित फ़िल्म, *प्रेमनगर* की भूमिका को अहम मानते हुए कांतिमोहन लिखते हैं , ' यह एक विरल घटना थी जबकि एक गीतकार ने एक संगीत निर्देशक को गुमनामी के अंधेरे से निकाल कर जगमगाते मंच पर प्रमुखता से उभार दिया।' लेखक ने संगीत के क्षेत्र में नौशाद के अमूल्य योगदान को याद करते हुए लिखा है कि 'उन्होंने शास्त्रीय संगीत से फ़िल्मी संगीत को लोकसंगीत की ओर उन्मुख कर दिया और फिर भी शास्त्रीय संगीत की मज़बूत डोर को नहीं छोड़ा। वो लगातार ऐसे गीत-रत्नों को सामने लाते रहे जिनमें से कुछ शास्त्रीय रागों पर आधारित थे और कुछ दूसरे लोकसंगीत की चाशनी में पगे हुए थे।'

लेखक ने कवि प्रदीप को हिंदी सिनेमा का ऐसा पहला गीतकार बताया है जिन्होंने सिनेमा जैसे घोर व्यावसायिक, ग़ैर-लचीले और अंधविश्वास के शिकार माध्यम में अपने विचारों और विश्वासों के लिए गुंजाइश पैदा की। वे लिखते हैं, 'प्रदीप ने जो छोटी सी और कच्ची-पक्की पगडंडी निकाली थी उसे आगे चलकर इप्टा से आये गीतकारों ने चौड़ा करके राजपथ में परिणत कर दिखाया। इसका उत्कर्ष हमें साहिर लुधियानवी में मिलता है।'

अंतिम अध्याय में फुटकर गीतकारों के बारे में चर्चा करते हुए लेखक ने भारतीय समाज और संस्कृति पर हिंदी फ़िल्मों के प्रभाव पर बेहद मानीखेज़ टिप्पणी की है। कांतिमोहन लिखते हैं, 'कश्मीर से बिहार तक के विराट हिंदी प्रदेश का प्रतिनिधित्व करनेवाले गीतकार हमारी फ़िल्मों को अपना-अपना योगदान कर रहे थे। एक तरह से गीत की यह नन्ही दुनिया हमारी दो प्रमुख भाषाओं हिंदी और उर्दू और उनकी बीसों बोलियों के उत्तमांश से मालामाल हो रही थी। फ़िल्मी गीत, दरअसल, हमारी गंगा-जमनी तहज़ीब का सबसे सच्चा नुमाइंदा है। इस देश की बहुवर्णी और बहुरूपी संस्कृति अपनी पूरी भव्यता और संपन्नता के साथ हमारे फ़िल्मांगन में ही अवतरित होती है।'

उक्त के आधार पर कहा जा सकता है कांतिमोहन सोज़ ने बड़े मनोयोग से हिंदुस्तानी सिनेमा के आरंभिक दौर के तमाम फ़िल्मी गीतकारों और उनके गीतों के बारे में गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। किसी एक गीतकार पर बात करते हुए वे उसके गीतों के साथ अन्य समकालीन गीतकारों के गीतों की भी तुलना करते चलते हैं। अपनी विवेचना में लेखक ने गीत के तकनीकी पहलुओं, युगीन प्रवृत्तियों और संबंधित फ़िल्म के निर्देशक, गायक और संगीतकार की ख़ूबियों और ख़ामियों को भी शामिल किया है। पारसी थियेटर और फ़िल्म निर्माण कंपनियों की कार्य प्रणाली के बारे में पुस्तक में अनेक रोचक और नयी जानकारी मिलती है। पुस्तक की भाषा में एक ख़ास क़िस्म का लालित्य है जिसमें हिंदी और उर्दू की सहज और ख़ूबसूरत जुगलबंदी दिखायी देती है।

फ़िल्मी गीतों और गीतकारों के बारे में पुस्तकों, पत्रिकाओं और इंटरनेट पर बिखरी पुष्ट-अपुष्ट सामग्री की समुचित पड़ताल के पश्चात उन्हें

एक जगह एकत्र करके पाठकों को उपलब्ध कराना अपने आप में एक श्रमसाध्य कार्य है। कहना न होगा कि कांतिमोहन सोज़ ने विविध स्रोतों के इस्तेमाल में पूर्वग्रहरहित शोधपरक दृष्टि अपनाते हुए इस चुनौतीपूर्ण काम को बख़ूबी अंजाम दिया है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हिंदुस्तानी सिनेमा के गीतों के सम्यक विकास को समझने के लिए यह पुस्तक बेहद उपयोगी है। फ़िल्म अध्ययन से जुड़े छात्रों, अध्येताओं, संगीत प्रेमियों और ख़ासकर हिंदुस्तानी सिनेमा में रुचि रखने वालों को यह किताब अवश्य पढ़नी चाहिए।

यहां हम हिंदी फ़िल्मी गीतों पर दो और किताबों, *धरती कहे पुकार के - गीतकार शैलेंद्र* और *गीतकार शैलेंद्र ....तू प्यार का सागर है* की चर्चा करेंगे। इंद्रजीत सिंह द्वारा संपादित दोनों ही पुस्तकें क्रांतिकारी कवि और फ़िल्म जगत के विलक्षण गीतकार शैलेंद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व के विविध पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डालती हैं। शैलेंद्र पर इससे पहले इंद्रजीत सिंह ने, *जनकवि शैलेंद्र* नामक पुस्तक संपादित की है जो शैलेंद्र के प्रति उनके प्यार और जुनून की परिचायक है।

शैलेंद्र आम आदमी के कवि थे। जन साधारण की पीड़ा को केंद्र में रखकर उन्होंने अनेक मर्मस्पर्शी कविताएं लिखीं । अदम्य आशा और जिजीविषा से भरे इस महान गीतकार के गीतों में भावों और विचारों का अद्भुत सामंजस्य दिखायी देता है। ज़िंदगी के फ़लसफ़े से भरे उनके फ़िल्मी गीतों में साहित्य की ख़ुशबू है। गूढ़ बातों को सरलता और सहजता के साथ व्यक्त करने की कला में वे लासानी हैं। अपने 17 साल के फ़िल्मी सफ़र में शैलेंद्र ने लगभग 800 गीत लिखे। उनकी कविताएं और ग़ैरफ़िल्मी गीत, *न्यौता और चुनौती* तथा *अंदर की आग* पुस्तक में संकलित हैं। इन कविताओं और गीतों में किसानों, मज़दूरों, महिलाओं, बच्चों और देश की माटी के प्रति गहरा लगाव दिखायी देता है। ‘हर ज़ोर-ज़ुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है' और 'तू ज़िंदा है तो ज़िंदगी की जीत में यक़ीन कर/ अगर कहीं है स्वर्ग तो उतार ला ज़मीन पर' जैसी अमर पंक्तियां शैलेंद्र की ही लिखी हुई हैं। दशकों से जन आंदोलनों में नारे के रूप में इनका इस्तेमाल होता रहा है। उनके दर्जनों फ़िल्मी गीत आज भी लोगों की ज़ुबान पर हैं और सुख-दुःख में लोग इन्हें गाते-गुनगुनाते हैं। कबीर और तुलसी की तरह उनके गीतों की पंक्तियां लोकोक्ति का रूप ले चुकी हैं।

बंबई में रेलवे की नौकरी करते हुए वे प्रलेस और इप्टा से जुड़े थे। इप्टा के एक कवि सम्मेलन में राजकपूर ने उन्हें सुना और वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि अपनी फ़िल्म, *आग* के लिए उनसे गीत लिखने का अनुरोध किया। हालांकि तब शैलेंद्र ने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया था, लेकिन बाद में आर्थिक तंगी के कारण वे राज कपूर की टीम में शामिल हो गये और फ़िल्म, *बरसात* से अपना शानदार फ़िल्मी सफ़र शुरू किया। एक जनवादी और क्रांतिकारी गीतकार से कामयाब फ़िल्मी गीतकार बनने की कहानी अपने आप में एक मिसाल है। राज कपूर की टीम में रहते हुए शैलेंद्र ने गीतकार हसरत जयपुरी, गायक मुकेश और संगीतकार शंकर-जय किशन के साथ मिलकर फ़िल्म जगत को बेशुमार यादगार गीत दिये । शंकर-जय किशन के अलावा उन्होंने एस. डी. बर्मन, सलिल चौधरी, रोशन व अनिल विश्वास जैसे प्रमुख संगीतकारों के साथ भी काम किया। ‘ये मेरा दीवानापन है’ (*यहूदी* -1958), ‘सब कुछ सीखा हमने’ (*अनाड़ी*-1959) व ‘मैं गाऊं तुम सो जाओ’ (*ब्रह्मचारी*-1967) के लिए उन्हें तीन बार फ़िल्मफ़ेयर अवॉर्ड से नवाज़ा गया।

धरती कहे पुकार के...गीतकार शैलेंद्र तीन सौ तैंतालीस पृष्ठ की पुस्तक है जिसमें रामविलास शर्मा, नामवर सिंह, त्रिलोचन, फणीश्वरनाथ रेणु, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, राजेंद्र अवस्थी, असग़र वजाहत, मैनेजर पांडेय, नरेश सक्सेना, लीलाधर जगूड़ी, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, आचार्य विष्णुदत्त राकेश, प्रह्लाद अग्रवाल, अजय तिवारी, शरद दत्त, अरविंद कुमार, भारत यायावर, राज कपूर, मन्ना डे, बासु चटर्जी, विजय आनंद, गोपाल दास नीरज, गुलज़ार, गुलशन बावरा, हसरत जयपुरी, निदा फ़ाज़ली, योगेश, इरशाद कामिल जैसे कवियों, गीतकारों, लेखकों, आलोचकों के साथ-साथ शैलेंद्र के दोस्तों और परिजनों के लेख और संस्मरण शामिल किये गये हैं।

पुस्तक में संकलित, 'कोई अब तलक प्यार करता है...' नामक संस्मरण में पति को याद करते हुए शकुंतला शैलेंद्र लिखती हैं,, मन की अंधियारी सतहों पर एकाएक यादों के सौ-सौ मोती झिलमिलाने लगते हैं। विछोह पर बना कुहासा धीमे-धीमे छंटने लगता है और हंसता मुस्कुराता अतीत मुझे अपने आप में समेट लेता है। स्वर्गीय पति की यादों के मेले जैसे इर्द गिर्द जुड़ने लगते हैं और अगणित फूलों की महक मेरी सांसों में समा उठती है। फिर मादक रस में डूबी हुई उनकी गुनगुनाहट पल प्रतिपल मन प्राणों को दुलराने लगती है- मैं तो तुम्हारे पास हूं शकुन। भले ही दुनिया के लिए मर गया हूं, पर तुम्हारे लिए तो हमेशा जीवित रहूंगा...' बेटे मनोज शंकर शैलेंद्र और दिनेश शंकर शैलेंद्र तथा बेटी अमला शैलेंद्र मजुमदार ने अपने संस्मरण के माध्यम से पिता से जुड़ी यादों को साझा किया है। ये पारिवारिक संस्मरण बेहद मार्मिक हैं। निजी होने के बावजूद एक कवि-गीतकार की आंतरिक दुनिया को समझने में ऐसे प्रसंग मददगार हैं।

'खुद की नज़र में शैलेंद्र', पुस्तक का आरंभिक, पर सबसे महत्वपूर्ण अध्याय है। इसके तहत शैलेंद्र का एक पत्र और, ‘मैं, मेरा कवि और मेरे गीत’ नाम से उनका आत्मकथ्य प्रस्तुत किया गया है जो *धर्मयुग* के मई 1961 के अंक में छपा था। शैलेंद्र सही मायने में जनता के कवि थे, और इसलिए जनता की पसंद-नापसंद को सर्वोपरि मानते थे। वे लिखते हैं, 'कलाकार कोई आसमान से टपका हुआ जीव नहीं है, बल्कि साधारण इंसान है, यदि वह साधारण इंसान नहीं, तो जनसाधारण के मनमानस के दुःख-सुख को कैसे समझेगा और उसकी अभिव्यक्ति कैसे करेगा? '

इस लेख में वे फ़िल्म-गीत लेखन की तकनीक के बारे में बेहद महत्वपूर्ण बात कहते हैं, 'फ़िल्म-गीत लिखना अधिकतर बहुत आसान समझा जाता है। सीधे-सादे शब्द, घिसी-पिटी तुकें, कहा जाता है कि फ़िल्म-गीत और है क्या? मेरा अनुभव कुछ और है। फ़िल्म-गीत-रचना मेरी समझ से एक विशेष कला है, चूंकि हमारी फ़िल्में शत प्रतिशत गीत प्रधान होती हैं, गीत उनमें होते ही हैं, इसलिए गीत जैसे पात्रों के संवाद का काम करते हैं, अन्यथा गीत कहानी को रोकेगा और ठूंसा हुआ मालूम होगा। इसलिए भावना और शब्दों का चुनाव कहानी के अनुसार बड़ी सावधानी से करना

होता है।'

फ़िल्मी दुनिया के इतिहास में कम ऐसे गीतकार हुए हैं जो गीत पहले लिखते थे और उसका संगीत बाद में बनता था। साहिर लुधियानवी अपवाद कहे जा सकते हैं जो धुन पर नहीं लिखते थे। अक्सर इसे गीतकारों पर ज़्यादती और उनकी पेशेवर स्वतंत्रता में बाधा के रूप में देखा जाता है। शैलेंद्र की राय इस मामले में संतुलित और सुलझी हुई है। वे लिखते हैं, 'गीत पहले लिखा जाये या धुन पर गीत लिखा जाये, इस सवाल को लेकर काफ़ी कुछ लिखा गया है। बहुत-से लोगों का मत है कि धुन पर लिखा गीत बढ़िया नहीं होता, मैं ऐसा नहीं मानता। मेरा ख़याल है कि यदि गीतकार को संगीत की थोड़ी बहुत समझ है तो वह धुन पर अच्छा गीत लिखेगा-नये नये छंद उसे मिलेंगे और दूसरी ओर यदि संगीतकार को काव्य की थोड़ी बहुत समझ है तो वह लिखे हुए गीत पर बढ़िया धुन बनायेगा, शब्दों और भावनाओं को फूल की तरह खिलाता हुआ।' रचनात्मक पतन के लिए जनता को ज़िम्मेदार ठहराने के बजाय वे लेखक को अपनी लेखनी में शक्ति पैदा करने की सलाह देते हैं। उनके अनुसार 'जनता को सस्ती रुचि का समझने वाले कलाकार या तो जनता को नहीं समझते या अच्छा और ख़ूबसूरत पैदा करने की क्षमता उनमें नहीं है। हां, वह अच्छा मेरी नज़रों में बेकार है, जिसे केवल गिने-चुने लोग ही समझ सकते हैं।'

शैलेंद्र को 'इश्क़, इंक़लाब और इंसानियत का कवि-गीतकार' मानते हुए इस पुस्तक की भूमिका में इंद्रजीत सिंह ने लिखा है कि 'कथा जगत में जो स्थान प्रेमचंद का है, फ़िल्म निर्देशन के क्षेत्र में जो हैसियत सत्यजीत रे की है, गायन के संसार में जो प्रतिष्ठा लता मंगेशकर की है, आलोचना की दुनिया में जो रुतबा रामविलास शर्मा और नामवर सिंह का है, संस्कृत साहित्य में जो सम्मान कालिदास का है, फ़िल्म गीत लेखन की दुनिया में वही मुक़ाम गीतकार शैलेंद्र का है।'

शैलेंद्र शृंखला के तहत इंद्रजीत सिंह द्वारा संपादित एक और पुस्तक, *'गीतकार शैलेंद्र : तू प्यार का सागर* है नाम से इसी वर्ष प्रकाशित हुई है। लगभग 200 पृष्ठों की इस किताब में विश्वनाथ त्रिपाठी, ऋतुराज, मुकेश, लीलाधर मंडलोई, रविभूषण, विट्ठल भाई पटेल, स्वयं प्रकाश, लाल बहादुर वर्मा, मनमोहन चड्ढ़ा, बाबू राम 'इशारा', कमलेश पांडेय, प्रसून जोशी, स्वानंद किरकिरे, यतींद्र मिश्र, बल्ली सिंह चीमा, डॉ. पुनीत बिसारिया, रमेश चौबे, ज़ाहिद ख़ान, डॉ. राजीव श्रीवास्तव, प्रदीप जिलवाने सहित साहित्य और सिनेमा से जुड़े कुल 34 लेखकों और कलाकारों के आलेख शामिल किये गये हैं। पुस्तक की भूमिका में लेखक ने शैलेंद्र को प्रगतिशील चेतना के एक ऐसे 'अप्रतिम ऊर्जावान कवि-गीतकार' के रूप में पेश किया है जिन्होंने मनुष्यता से लबरेज मानीखेज़, उदात्त जीवन मूल्यों से भरपूर गीत रचकर साहित्यिक प्रतिबद्धता का परिचय दिया। ये लेख शैलेंद्र के व्यक्तित्व और कृतित्व के बहुरंगी पक्ष को हमारे सामने लाते हैं।

इंद्रजीत सिंह द्वारा संपादित उक्त दोनों पुस्तकें शैलेंद्र के आरंभिक जीवन, संघर्ष और फ़िल्मी सफ़र से जुड़े अनेक अनछुए प्रसंगों को पाठकों के समक्ष लाती हैं। एक क्रांतिकारी कवि और गीतकार के रूप में शैलेंद्र के विचारों को जानने-समझने में इनका महत्व असंदिग्ध है। सिनेमा पर शोध कर रहे अध्येताओं और शोधार्थियों के लिए तो यह एक ज़रूरी पुस्तक है ही, शैलेंद्र के चाहने वालों तथा साहित्य और सिनेमा में रुचि रखने वाले आम पाठकों के लिए भी ये पुस्तकें उपयोगी हैं। साहित्य और सिनेमा की अलग-अलग विधाओं से जुड़े नये-पुराने लेखकों के साथ-साथ शैलेंद्र के दोस्तों और परिवारजनों के आलेख और संस्मरण इन्हें संग्रहणीय बनाते हैं।

मो. 9717367329

पुस्तक संदर्भ

1. *ज्योति कलश छलके...आज़ादी से पहले फ़िल्मी गीत और गीतकार* : कांतिमोहन सोज़, एपीएन पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली, 2015

2. *धरती कहे पुकार के - गीतकार शैलेंद्र* : इंद्रजीत सिंह (सं.), वी के ग्लोबल पब्लिकेशन प्रा. लि., फ़रीदाबाद, 2019

3.. *गीतकार शैलेंद्र : तू प्यार का सागर है* : इंद्रजीत सिंह (सं.) वी के ग्लोबल पब्लिकेशन प्रा. लि., फ़रीदाबाद, 2020

लुईस ग्लुक की पांच कविताएं

(वर्ष 2020 का साहित्य का नोबेल पुरस्कार अमरीकी कवि लुइस ग्लुक को मिला है। इस बार का नोबेल इसीलिए भी विशेष है कि यह नौ साल बाद कविताओं के लिए दिया गया है। सतहत्तर वर्षीय लुइस ग्लुक का लंबा रचना जीवन पुलित्ज़र अवॉर्ड, नेशनल ह्यूमैनिटीज़ अवॉर्ड, नेशनल बुक क्रिटिक्स अवॉर्ड जैसे अनेक महत्वपूर्ण पुरस्कारों से सुशोभित हुआ है। ग्लुक अमरीका की पोएट लॉरियट भी रही हैं जिनका नाम इस सदी के श्रेष्ठ कवियों में शुमार है। उनकी कविताएं दुख, मोहभंग, मृत्यु, अकेलेपन और निराशा की सघन अभिव्यक्ति हैं। ग्लुक सब कुछ ख़ुद नहीं कह देना चाहतीं, न ही अर्थ पर वे अपना लेखकीय एकाधिकार चाहती हैं, बल्कि, उनकी कविताओं में आधे-अधूरे वाक्य, बिंब, मिथकीय संदर्भ, अचानक बदलते दृश्य व कथा वाचक, किसी कोलाज के लिए इधर-उधर से जुटायी गयी कतरनों की तरह पाठक को कविता के अर्थ को अपनी तरह से रचने और पूरा करने के लिए आमंत्रित करते हैं। लुइस ग्लुक न्यूनतम में अपना काम चलाती हैं। उनमें भाषा और भावाभिव्यक्ति का संयम भावनाओं के अतिशय बहाव को जगह-जगह पर अवरुद्ध करके पाठकों को देखने-सोचने का समय देता है, रचना का तनाव पैदा करता है और उस अंत की तरफ़ लेकर चलता है जहां कविता अपनी पूरी भावनात्मक ऊर्जा के साथ 'एक्सप्लोड' करती है- अनु.)

1. संध्या प्रार्थना

अपनी लंबी अनुपस्थिति में, तुम इजाज़त देते हो मुझे
धरती के उपयोग की; तुम्हें उम्मीद है इस निवेश से
कुछ प्रतिलाभ की। मुझे सूचित कर देना चाहिए तुम्हें
दिये गये इस कार्य में असफलता अपनी, विशेषकर
जो टमाटर की खेती में हुई।
मुझे लगता है, टमाटर उगाने के लिए
नहीं किया जाना चाहिए प्रोत्साहित मुझे। या फिर,
अगर किया जाये, तो रोकना चाहिए तुम्हें
तेज़ बारिश को, सर्द रातों को,
जो हुआ करती हैं यहां अक्सर ही,
जबकि मिलती है इलाक़ों को बाक़ी
बारह हफ़्ते धूप गर्मियों की। इन सब पर
स्वामित्व है तुम्हारा : लेकिन, दूसरी तरफ़, बीज मैंने डाले, ज़मीन फोड़कर
पंख खोलते पहले अंकुरों को मैंने निहारा, और वह हृदय भी मेरा ही था
जो उनमें रोग लगने से टूट गया; काले धब्बे कितनी तेज़ी से
फैलते गये क़तार में। मुझे संदेह है
कि कोई हृदय भी है तुममें; इस शब्द से जो कुछ भी समझते हैं हम।
तुम, जो कोई भेद नहीं करते मृत और जीवित में,
तुम, जो इस वजह से बने रहते हो अप्रभावित व पहुंच से परे, तुम्हें क्या पता
कितना भय और त्रास है हमारे भीतर, पत्ती में धब्बे का उभर आना,
मेपल के पेड़ की रुग्ण लाल पत्तियों का शाम के झुटपुटे में झरते जाना,
अगस्त की शुरुआत में ही : इन पौधों के लिए
मैं ज़िम्मेदार हूं।

2. विवाह-गीत

वहां और भी थे; उनके शरीर
तैयार हो रहे थे।
मैं इसे अब ऐसे देखती हूं।

चीखों की एक नदी की तरह।
इतनी पीड़ा है इस दुनिया में – आकारहीन
व्यथा देह की, जिसकी भाषा
है भूख –

और हॉल में गुलाबों के डब्बे :
उनके मायने ही हैं

उथल-पुथल। और फिर शुरू होता है
विवाह का भीषण दान-अनुष्ठान,
पति और पत्नी
चढ़ते हैं हरी पहाड़ी सुनहरे प्रकाश में
वहां तक जिसके बाद कोई पहाड़ी नहीं रह जाती
रह जाता है तो बस
एक सपाट मैदान जिसे रोके खड़ा होता है आकाश।

यह रहा मेरा हाथ, उसने कहा।
पर वह बहुत पहले की बात है।
यह रहा मेरा हाथ जो तुम्हें कभी चोट नहीं पहुंचायेगा।

3. अप्रैल

(स्काईला और वुड वायलेट वसंत में खिलने वाले एक ही फूल के दो नाम हैं। गाढ़े बैंगनी या नीले रंग के इन आम जंगली फूलों की एक कम प्रचलित प्रजाति सफ़ेद रंग की भी होती है। लोक संस्कृति और प्राचीन ग्रीक साहित्य में यह फूल और इसका बैंगनी रंग प्रेम का प्रतीक रहा है, ख़ासकर समलैंगिक प्रेम का। बैंगनी/ गहरा नीला रंग उन्नीसवीं सदी के महिलाओं के मताधिकार आंदोलन का भी प्रतीक रहा। जंगली घास में उगने वाले इन छोटे-छोटे फूलों को अक्सर निराई-गुड़ाई करके बग़ीचे से निकाल दिया जाता है। इस कविता में आये बग़ीचे के ज़िक्र के संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि इसाई मत के अनुसार आदम और हव्वा को ईश्वर ने ईडन के बग़ीचे में रखा था।)

नहीं किसी की व्यथा मेरी व्यथा समान –

इस बग़ीचे में कोई जगह नहीं तुम्हारे लिए
ऐसी बातें सोचते, जनते
उनके उबाऊ बाह्य चिन्हों और संकेतों को; आदमी
बारीक़ी से एक पूरे जंगल की निराई कर रहा है।
औरत लंगड़ा रही है, इनकार कर रही है कपड़े बदलने या बाल धोने से।

क्या तुम्हें लगता है कि मुझे ज़रा भी परवाह है इस बात की
कि एक-दूसरे से तुम बोलते-चालते हो या नहीं।

पर चाहती हूं कि तुम जानो
कि दो प्राणी जिन्हें दिमाग़ मिला
उनसे मैं इससे बेहतर की उम्मीद करती हूं : अगर न हो सके
वाक़ई एक-दूसरे की चिंता और देखभाल
तो इतना तो हो कि तुम समझ सको
कि दुख बंटा हुआ है
तुम दोनों के बीच, तुम्हारी पूरी मानव जाति के बीच, मेरे लिए
तुम्हें समझना, यों कि गहरा नीला
पहचान है जंगली स्काईला के फूलों की, सफ़ेद
वुड वायलेट की।

4. घर वापसी (नॉस्टोस)

('नॉस्टोस' यूनानी मिथकों की एक विषयवस्तु है जिसमें एक पौराणिक नायक समुद्र-यात्रा करके वापस घर लौटता है। देश वापस लौट पाने में सफल होना एक ऊंचे दर्जे का पराक्रम समझा जाता था। नॉस्टोस शब्द से ही 'नॉस्टैल्जिया' बना है—अनु.)

इस अहाते में एक सेब का पेड़ था –
यह कोई चालीस बरस पहले की बात होगी – उसके पीछे,
सिर्फ़ हरे मैदान। नम घास में क्रॉकस के फूलों की
कांपती हुई झील थी।
मैं उस खिड़की से देख रही थी :
अप्रैल का आखीर था। वसंत
के फूल थे पड़ोसी के अहाते में।
कितनी बार, वाक़ई, यह पेड़
मेरी सालगिरह पर फूला,
ठीक उसी दिन, न
पहले, न बाद में? प्रतिस्थापित हो जाता है –
अपरिवर्त्य की जगह
वह जो गतिशील है और विकस रहा।
प्रतिस्थापित हो जाती है छवि-बिंबों की जगह
वह पृथ्वी जो है अपनी निर्मम गति में अविश्रांत। क्या
जानती हूं मैं इस जगह के बारे में,
उस पेड़ का दशकों का किरदार
एक बोनसाई ने ले लिया है, आवाज़ें
आ रही हैं टैनिस कोर्ट से -
मैदान हैं। गंध लंबी घास की जो ताज़ा कटी है
जैसा कि कोई नज़्म निगार से उम्मीद करता है।
हम दुनिया को बस एक बार देखते हैं, बचपन में।
शेष सब स्मृति है।

5. स्नोड्रॉप के फूल

(वसंत के अग्रदूत और उम्मीद के प्रतीक ये सफ़ेद घंटियों जैसे जंगली फूल, 'स्नोड्रॉप' सर्दियों के ठीक अंत में खिलना शुरू हो जाते हैं)

तुम्हें पता है क्या थी मैं, कैसे जिया मैंने? तुम्हें पता है
क्या होती है हताशा-बेबसी; तो फिर
सर्दियां के अर्थ ज़रूर होंगे तुम्हारे लिए।

बचे रह जाने की उम्मीद नहीं थी मुझे,
धरती ने दबा रखा था मुझे। मैंने नहीं की थी उम्मीद
कि फिर से जागूंगी मैं, महसूस करूंगी
धरती की नमी में अपनी देह को
फिर से हरकत करते हुए, याद करूंगी
इतने समय के बाद कि कैसे खिलना है
एकदम आरंभिक वसंत की
सर्द रोशनी में –

सहमे हुए, हां, पर फिर से तुम्हारे बीच
चीख कर कहते हुए हां लगाओ ख़ुशियों की बाज़ी

सर्द बेधती हवा में नयी दुनिया की।

अनुवाद : झरना मालवीय
मो. 7897917606

अल्मोग बेहार की कविताएं

(अल्मोग बेहार (जन्म 1978) इज़राइल के युवा कवि, कहानीकार और लेखक हैं। उनके लेखन में इज़राइल के अंदर भाषा और संस्कृति के स्तर पर विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि से आये लोगों, विभिन्न भाषाओं और संस्कृतियों के इतिहास के साथ इज़राइल पहुंचे लोगों की आशंकाओं और तनावों की अभिव्यक्ति दिखायी देती है। अल्मोग स्वयं यहूदी हैं और इज़राइल में उनका जन्म हुआ है लेकिन उनके माता-पिता और पूर्वजों की संस्कृति इराक़, तुर्की और जर्मनी से जुड़ी हुई है—अनु**.**)

1. ईश्वर के बारे में बच्चे से बातचीत

मैंने ईश्वर के बारे में अपने बच्चे को तबतक नहीं बताया,
जब तक वह तीन साल का नहीं हो गया,
मुझे लगा कहीं वह डर न जाये।
जब तीन साल का हो गया मेरा बेटा
मैंने ईश्वर से करवाया उसका परिचय।
ये मेरे भगवान हैं- मैंने बेटे से कहा।
यह मेरा बेटा है- मैंने अपने ईश्वर से कहा।
उन्होंने एक दूसरे के बारे में पूछे सवाल।
मेरे बेटे ने पूछा-
क्या आपका ईश्वर हमारा कोई संबंधी है जैसे-
हमारे दादाजी या चाचा?
नहीं, ऐसा नहीं है, मैंने बेटे को बताया।
मेरे भगवान ने पूछा-
तुम्हारे बेटे का नाम क्या है? मैंने कहा उसके कई नाम हैं-
जैसै मीठा और मिट्ठू, दुलारा और दुलदुल,
प्यारा और पीहू।
मेरे बेटे ने पूछा- आपके भगवान का क्या है नाम?
मैंने कहा उनके हैं अनेक नाम- वे पिता हैं हमारे, हमारे मालिक, धन्य हो उनका नाम-
दुनिया के स्वामी, परमपिता परमेश्वर और भगवान।
मेरे भगवान ने कहना शुरू किया, 'तुम्हारा बेटा, इकलौता बेटा, प्यार करते हो जिसे तुम…'
मैंने दिखाया जैसे सुना ही नहीं मैंने।
मेरे बेटे ने पूछा- किसे ज्यादा प्यार करते हैं आप?
और मैं ख़ुश हो गया कि उसके मुंह से निकला था शब्द 'प्यार'।
मैंने तुरंत हटाया उसका ध्यान-
दिखाया आसमान में उड़ता हवाई जहाज़,
और घास में सरकता गुबरैला।
मैंने उससे नहीं कहा कि ये सब बनाये हैं भगवान ने,
बस इतना कहा, सुंदर, है न?

2. पांच अर्थों वाली कविता

(क)
मैं रोशनाई से लिखी कविताओं के बदले
ख़रीदता हूं काग़ज़ी दया,
और माफ़ी मांगता हूं डूबते सूरज से
जो चमक रहा है मेरी शुष्क गर्दन के पीछे।
मैं जोड़ता हूं ध्वनियां जिनका सिर्फ़ हिब्रू में होता है अर्थ
अपने पास आते तुम्हारे रास्ते की
काग़ज़ पर हिज्जे लगाने की करता हूं कोशिश।
(ख)
मेरे दिल का दर्द मेरे दिल का हिस्सा-
ठीक वैसे ही जैसे मेरे दिल की ख़ुशी है मेरे दिल का हिस्सा,
ठीक वैसे ही जैसे खोये हुए आंसू हैं मेरी रुलाई का हिस्सा
हिब्रू में सूखी नदी को भी नदी कहते हैं।
(ग)
किसी अवसादग्रस्त यूनानी कवि ने पता लगाया था-
जगे हुए पुरुष एक सी दुनिया में होते हैं, एक साथ
और जब वे सोते हैं तो चले जाते हैं अपनी अपनी दुनिया में
और मैं अपने सपने में था तुम्हारे साथ,
जगा तो था अकेला।
(घ)
किसी चीनी संत ने सिखाया है-
जिन्हें हमें फेंकना होता है ज़रूरी,
वे होती हैं बड़ी इकट्ठा करने वाली चीज़ों से,
क्योंकि जो भूल जाते हैं वे करते हैं इकट्ठा,
और जो याद करते हैं - फेंक देते हैं वे।
और मैंने उनसे कुछ भी नहीं सीखा।
(च)
इकलिएस्टिएस ने कहा था- स्मृति नहीं होती
और मैंने जब से इसे पढ़ा
मेरी ज़िंदगी से कभी नहीं जुदा हुआ यह वाक्य।

अनुवाद : राजेश झा
मो. 9810216943